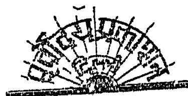
मन्थन

मन्थन

[तात्त्विक निबन्ध]

जैनेन्द्र कुमार



पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज दिल्ली।

पूर्वोदय प्रकाशन
७ दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य : पाँच रुपये

गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित
और पूर्वोदय प्रकाशन, ७/६६ दरियागंज दिल्ली की ओर से
दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित।

अपनी बात

कुछ मै सोच मे पड गया हूँ कि आपसे क्या कहूँ। सोच से ज्यादा अचरज है। क्योकि यह बात कि कुछ अपने बारे मे कहने के लिए मै इस वक्त यहाँ हूँ, यकीन के लायक नहीं मालूम होती। असल मे अपने होने, उस पर भी लेखक होने पर मुझे आज विस्मय के सिवा कुछ नही हो सकता। बेशक कुछ किताबें हैं जिन पर मेरा नाम है। वे लिखी भी मुझसे गई है। यह अनहोना ही हुआ है और अब तक इसके अचम्भे से मै उबर नही सका हूँ। सूरदास के एक पद मे उस कृपा का बखान है जिससे अन्धे को दीख आता है, बहरा सुन लेता है, गूँगा बोल उठता है और रक राव बनता है। भगवान् की कृपा से सब सम्भव है।

कुछ ऐसी ही बात हुई होगी, नहीं तो मुझे सपना भी न था कि मै लिख सकूँगा। पढ़ाई उसके लिए काफी की नहीं थी, और भी कुछ तैयारी नहीं हुई। उमर वह हो गई थी जब आदमी को कुछ करना-धरना चाहिए। तेईसवें बरस में आ गया था। पढ़ना सोलहवें वर्ष में ही छूट गया था। उसके बाद के छः-सात बरसों का हिसाब नहीं है। ये दिन भटकने में ही बीते। आखिर भटकना थमा। खयाल हुआ, कुछ करना चाहिए। पर क्या करें? कोई ऐसा था नहीं जो मुझे उँगली पकड़कर राह लगाये। एक अकेली माँ थी। वह आसू-भरी आँखों से

मुझे देख लेने के सिवा क्या कर सकती थी। मै उनका अकेला लडका था, और वही मै निकम्मा और बेकार था। माँ की उन आँखो मे स्नेह तो देखता था, पर जैसे अपने मे निराशा भी देखता था। उस दृष्टि का धिक्कार मुझे चोट देता रहता। आखिर कुछ पैसो का जुगाड़ करके कलकत्ते का मैंने टिकट कटा लिया। सोचा, इतना बडा शहर है, कुछ-न-कुछ काम मिल ही जायगा। निकम्मा रहकर माँ के स्नेह का सामना न होता था। ऐसा ही होगा तो चलो उनकी आँखो से दूर तो रहूँगा। पर नहीं, काम कुछ हाथ आ ही जायगा, और माँ को खबर दूँगा कि बेटा काम से लग गया है। बात यह भी थी कि कलकत्ते में कुछ सहारे का भरोसा था। उस सहारे की जगह पहुँचा तो बन्धु चौंककर बोले—"अरे, तुम कब आये ? न खत, न कुछ, क्या बात है ?"

मैंने अपनी स्थिति बतलाई और कहा कि आपने ही जगह के बारे मे लिखा था।

"वह खूब !" हितैषी बोले, "भई, बडे अजब लडके हो तुम ! लिखा था चार महीने पहले। आप समझते है कि अब आपके लिए वह जगह खाली रखी होगी !"

मैंने देखा कि बात ठीक है। मै रुआसा हो आया। इस मुँह मै वापिस कैसे जा सकता था। मेरी हालत देख हितैषी बोले, "जगह तो वह भर गई है, और जब मैंने लिखा था तब परवाह तुमने क्यों नहीं की ?"

मुझे खुद नहीं मालूम कि मैंने परवाह क्यो नहीं की। हालत मेरी और दयनीय हो आई। वह हालत देखकर कृपालु बुजुर्ग ने कहा, "अफसोस से अब क्या होता है,—चलो और जगह तलाश करेंगे। जवान हो, निराश नहीं हुआ करते।"

मैंने कहा, "बीस की हो, पच्चास की हो, जो भी जगह हो मैं ले लूँगा। वापिस लेकिन किसी तरह नहीं जा सकूँगा।"

उन सज्जन ने काफी यत्न किया। पर किस्मत ही उल्टी हो तो

कोई क्या करे। आठ रोज कोशिश मे लगाये गए, पर बीस की भी कोई नौकरी हाथ नहीं आई। जानता था कि जहाँ टिक गया हूँ वहाँ भारी हूँ। पास पैसे भी कम हो गए थे। बस ठीक इतना बचा था कि टिकट आ जाय। इन आठ रोज उस महानगरी की काफी खाक छानी। बड़ा कामिन्दा शहर है। बस लोग यहाँ से वहाँ लपके जा रहे है। सबको काम है और सब झपट रहे हैं। मैं औंचक यह देखता था। समझ ही न पाता था कि क्या है जो इन सबको भगाये जा रहा है। क्या व्यस्तता है जो उन्हे लगाये रख रही है।

खैर, मैं बैरंग वापिस आ गया। माँ ने प्यार से लिया। वह प्यार मुझे अन्दर तक काटता चला गया। मुझ सा नालायक कौन होगा। उसी बदनसीब को यह प्यार क्यों मिल रहा है। खलता था कि कोई कष्ट नहीं जो मुझसे उन्हे न मिला हो। कपूत के और क्या लच्छन होते हैं। पर पूत कपूत हो, माँ तो माँ ही होती है।

ऐसे दिन बीतते गए और मेरे सामने अँधेरा बढता गया। दिल्ली कौन छोटा शहर है। यह सन् सत्ताइस की दिल्ली की बात है। सन् बावन की दिल्ली की तो पूछिए क्या, देखते-देखते वह तो जैसे लन्दन बनी जा रही है। उसकी व्यस्तता का दबाव मुझ पर कम न रहता था। एक तरफ माँ को देखता जो अपने हाथो से खाना बनाकर बैठी मेरी राह देखती रहा करती थी। दूसरे अपनी तरफ देखता जिसे कुछ शऊर न था और जो हर तरह एक अनावश्यक बोझ था। ऐसे मै घर से दूर-ही-दूर रहता था कि आत्मग्लानि का रस तो पा सकूँ, नहीं तो सब नीरस लगता था और मै डूबता जाता था।

नहीं, आत्मघात सम्भव नहीं हो सका। उसके लिए भी शायद योग्यता चाहिए। जो सम्भव हुआ वह यह कि कुछ पीले कागज काले किये। कहना चाहिए कि ऐसे असम्भव ही सम्भव हो आया। फिर जिस इबारत से कागज काले हुए थे वह पीछे एक संयोग से छापे मे छपी मेरे ही देखने में आई। वह दिन है कि आज दिन है, मै लेखक

कहाता हूँ और अब तक जिन्दा हूँ। सच मानिए कि मेरा दोष उसमें नहीं है, होनहार का तमाशा ही नजर आता है। इस घटना से मेरे मन मे हो गया है कि आदमी नही करता, भगवान् ही करता है।

यह बात कह तो गया, पर कहते झेंप होती है। क्योंकि समझदारी की बात यह नहीं जान पड़ती। इसका सबूत कोई नहीं और शायद हार में और निराशा मे ऐसा कहा जाता है, "वह हो सकता है", और सहसा भगवान का नाम लेने को मै राजी नहीं हो पाता। पर आज के लिए कुछ बताया ही नहीं गया कि मुझे आपसे क्या कहना है। कहा गया कि अपनी बात कहूँ। मेरी अपनी बात कोई दूसरी नहीं, यही है कि मेरी बात कोई नही है।

सन् इक्कीस और तीस के दिन भारत मे अमिट रहेंगे। राष्ट्र के प्राणों मे वैसा ज्वार भला कब-कब आया होगा! सन् तीस में जेल जाना हुआ और मैने अपने को पंजाब के गुजरात स्पेशल जेल मे पाया। वही दिल्ली, पंजाब और सरहद के चुने-चुने लोग जमा थे। इससे वातावरण जगा रहता था और खूब सरगर्मी रहती थी। पर मेरी पहुँच कम थी। इससे मै अपने को कुछ अकेला पाता था। वहाँ पहली बार किताब हाथ लगी—गीता। नाम उसका सुना था, तब तक उसको देखा नही था। गीता की वहाँ क्लास थी और जेल में अक्सर उसकी चर्चा रहा करती थी। तिलक, अरविन्द और गाँधी के भाष्य लोग पढ़ते और उद्धृत करते थे। मैं उनमें अधिक रस न ले पाता था। थोड़ा ही कुछ समझ आता, ज्यादा समझ ही न आता था और इस तरह उदास रहता था। लगता था, जैसे शंकाएँ भर गई है और समाधान कहीं नहीं है।

जेल के बीच मे गोलाकार एक खुला उद्यान था जिसके चारों तरफ हम लोग अक्सर घूमा करते थे। उन्हीं दिनो की एक शाम की बात है। हल्की सर्दी थी। शाम गहरी हो चली थी। तारे दीख आए थे। रात अँधेरी थी, लेकिन तारे आसमान पर देखते-देखते ऐसे भर आए

कि चाँद का न होना पता न चला। चाँदनी तो थी, फिर चाँद का न होना भला ही लगा। देखा कि अब इक्का-दुक्का ही घूमनेवाले रह गए हैं। फिर वह भी न रहे। मै अकेला चक्कर पर घूमे जा रहा था, घूमे जा रहा था। आसमान पर वे अनगिन नन्हीं-नन्हीं बिन्दियाँ अजब लगती थीं। कभी वे छिप जातीं, कभी मुस्करा आतीं। मुझे समय का भान न था। जैसे कुछ और होने का भी धीरे-धीरे भान न रहा। हल्की ठण्ड थी और हलकी-हलकी बयार। होते-होते सन्नाटा हो चला। जैसे बस तारों-भरी रात ही थी और उसके नीचे चाँदनी में खिलता अँधेरा, और हौले होकर बहती हुई हवा। बाकी सब सो गया था! जैसे शेष हुआ अनहुआ हो गया हो।

पाँव मेरे चले जा रहे थे और समय निकलता जा रहा था। न मुझे चलते पाँवो का पता था, न जाती घड़ियों का। क्या मै तब अपने मे उलझा था? घूमते-घूमते घण्टों की आवाज में दस सुनाई दिया, फिर ग्यारह सुनाई दिया। तारे आसमान मे और भर आए थे। जैसे वे उजले भी ज्यादा हो रहे हो।······एक एक उनमें दुनिया है। कई सूरज है और सूरज से बड़े हैं। जितने दीखते हैं असंख्य हैं। और असंख्य ही अभी नहीं दीखते, क्योकि रोशनी उनकी बराबर चल रही है, पर हम तक अभी पहुँची नहीं है। सभी ये तारे दृश्य और अदृश्य, स्वतन्त्र जगत् हैं और बडे-बडे जंगल हैं। और वे बराबर जागते हैं, और घूमते हैं, और वे अनन्त हैं, अनन्तकाल से हैं, अनन्तकाल तक है। वे नन्हीं-नन्हीं बिन्दियो से तारे!

ऊपर उन्हे देखता, फिर नीचे अपने को देखता। हठात् अपना होना न-होना-सा लगता। इस न-होने मे जैसे मैं डूबने लगा। देखते-देखते मेरे प्रश्न खो गए, शंकाएँ बिसर गईं। जाने किससे जी भर आया। भरके मै हलका हो गया। मेरे पैर अब चल-नहीं रहे तिर रहे थे। मैं धरती पर न था जैसे एक साथ आसमान मे भी था। उस समय बारह बजे। घण्टा एक-एक कर बजता गया। यह दो यामों का संधि-

काल था। जैसे चेतावनी हो। बस, चुपचाप चलता हुआ मैं अपनी 'सेल' में आया। वहाँ ढकी हुई मेरी थाली रखी थी। पर उधर ध्यान न दे सका। बराबर से नोटबुक खींची, उस पर लिखा, 'मैं नहीं हूँ, वह है।' लिखा और लिखकर बस सो गया।

सो चाहे गया, और सो अब भी रहा हूँ, पर उस रात्रि का आविष्कार कि मैं नहीं हूँ मुझसे एकदम खो नहीं पाया है। यद्यपि धूल उस पर पड़ जाती है और गर्व मे मैं कभी हो भी उठता हूँ, पर आपसे कहता हूँ कि आप मानें कि मैं नहीं हूँ।

—जैनेन्द्रकुमार

'अपनी बात' एक दूसरे अवसर पर लिखी गई थी। किन्तु इससे पाठकों को लेखक के मौलिक दृष्टिकोण की मूल प्रेरणा के समझने में सहायता मिलेगी, इसलिए मन्थन की भूमिका के रूप में इसको यहाँ दिया गया है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

मानव का सत्य

हम जानते हैं कि चीजें बदला करती है, ज़िन्दगी में हम बदल गये हैं और जिन चीजो को हम जैसा जाना करते थे, वे आज वैसी ही नहीं हैं। देखते-देखते एक लहलहाता गाँव उजड़ गया है और, जहां बंजर धरती थी, वहाँ शहर बन गया है। जो बच्चे थे, आज बडे हो गये है और जिम्मेदार आदमी समझे जाते हैं। कुछ उनमें अब शेष भी नहीं हैं, वे काल-कवलित हो गए हैं। कुछ उनमे और है जो चलते-चलते मौत के किनारे पहुँच रहे है। सारांश, दुनिया चलती रहती है और चीज़े बदलती रहती हैं।

कुछ पदार्थ हमें अचल प्रतीत होते हैं। धरती है, मकान है, पहाड है,—ये चीजें स्थिर जान पडती है। इनमे परिवर्तन नहीं दीखता। पर ऐसी बात है नहीं। अचल वे भी नहीं है। साधारणत: हमे उनमे होता रहने वाला परिवर्तन दीखता नहीं, पर इतिहास के मार्ग से और अन्यान्य विज्ञानो द्वारा हम जानते हैं कि वे जैसे हैं, वैसे कभी नहीं थे। गति अस्तित्व की शर्त है, और जो है वह परिवर्तनीय है। परिवर्तनीयता होने की परिभाषा है।

वस्तुओं की आयु भिन्न है और उनमें होने वाले परिवर्तनों की गति का वेग भी भिन्न है। हर एक अस्तित्व में ये दो क्रियाएँ निरन्तर रहती है—कुछ उसमें से मिटता रहता है, कुछ और नया होता रहता

। उत्पत्ति और समाप्ति, ये दो पहलू प्रत्येक अवस्था मे है। पुरातन ार्थ जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है, नूतन उसकी जगह लेता है। इसी ाँति परिवर्तन सम्पन्न होता है।

अपने चारो ओर घटित होती हुई घटनाओ मे एकाएक हमे कोई गति नही दिखलाई देती। शहर क्यों बडा हो गया और गाँव क्यो उजड गया? पिता कहाँ है और उसकी जगह अब पुत्र क्यो निश्चिन्तता-र्वक तना बैठा है? हमारे चारो ओर की हालतें क्यो बदल गई है? केस भाँति एक मामूली व्यापारी बढ़कर बडा आदमी हो गया है और क्यों कल का बडा आदमी पूछा भी नहीं जाता? चारों ओर आँख खोलकर देखने से मन में इसी भाँति के प्रश्न उठते हैं और वे प्रश्न बहुतेरा उत्तर देने पर भी अन्त तक कुछ प्रश्न से ही बने रहते है।

लेकिन यदि हम वर्तमान को तटस्थ होकर देख सकें, जो कि पूर्ण-तया सम्भव नहीं है, तो हमें प्रतीत होगा कि कोई कटी हुई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही है। जो था उसी मे से यह वर्तमान बना है। यह मनमाना नही है। मनमाना हो भी नहीं सकता। इसी भाँति, जो भविष्य मे होगा, वह भी आज के वर्तमान से निरा असम्बद्ध नहीं है। आज ही को कल होना है।

हम देख सकेंगे कि परिवर्तनो मे क्रम है और काल की प्रगति में जो आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते है, वे निरे असंगत और अहेतुक नहीं हैं। उनमें संगति और हेतु है।

किन्तु घटना का औचित्य उस घटना मे बन्द नहीं मिलेगा। घटना को वृत्त मानकर उसी के भीतर हेतु खोजने से नही चलेगा। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन को तोडकर अपने मे ही उसे समझना चाहे तो जीवन व्यर्थ-सा और अतर्क्य-सा मालूम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि जब व्यक्ति अपनी ज़िन्दगी के साठ-सत्तर, सौ वर्ष जीकर समाप्त होता है, तब भी उसका परिवार चलता रहता है। परिवार मिट जाते हैं और समाज बना रहता है। इसी तरह, एक राष्ट्र के जीवन में

समाज अपना जीवन दान कर जाता है। सहस्र-सहस्र वर्षों के इस प्रकार के संयुक्त जीवन की साधना के परिणामस्वरूप संस्कृतियाँ बनती हैं। मनुष्य का ज्ञान और सभ्यता और संस्कृति इसी भाँति उन्नत और पुष्ट होते जाते हैं।

हम देखें कि समस्त परिवर्तनों मे नितान्त असंगति ही नहीं है, प्रत्युत उनमे एक विकास-धारा है। चीज़ें बनती हैं और मिटती हैं, पर वे अनर्थक भाव से नहीं बिगडती-बनतीं। पिता यदि पुत्र को जन्म देकर स्वयं मौत की ओर बढ जाता है, तो यह भी एक नियम के अनुसार है। वह यद्यपि यह अन्ध भाव से कर सकता है, पर वह विधान निरर्थक नहीं है, नियमानुकूल है। मनुष्य चाहे उसमें अपनी तृप्ति माने अथवा उसे अपने लिए शाप समझे, पर वह अनिवार्य हैं। मानव-जीवन का अर्थ उसके-अपने ही भीतर समाप्त नहीं है।

एक अनिर्दिष्ट निर्देश से मानव जीता, चलता है और मरता है। वह अज्ञान से अथवा ज्ञान-पूर्वक अपने जीवन के चक्कर को काटता है और अपने जीवन-दान से बृहत् चक्र के संचालन में सहयोगी बनता है।

हम परिवर्तन करते हैं और परिवर्तन हम पर होते रहते हैं। उसके साथ ही हम जान लें कि वह परिवर्तन-मात्र परिवर्तन नहीं है, वह उन्नति और विकास है। जानें कि सब-कुछ के द्वारा और हमारे द्वारा भी युग-युग के भीतर एक विकास अपने को सम्पन्न कर रहा है। हम उसके साधन हैं और उसके भाग हैं।—हम और कुछ नहीं हो सकते। विकास न रुकेगा। भविष्य आवेगा ही। अतीत जो था, था, और भविष्य भी जो होगा, वही होगा। इस दृष्टि से वर्तमान की भी एक निश्चित रूप-रेखा है। इसी महाचक्र के भीतर हम हैं। हम गिनती के वर्षों के लिए हैं और परिणाम मे साढ़े तीन हाथ से ज्यादा नहीं हैं। हम जब से आरम्भ हुए हैं, उसकी जन्म-तिथि है, जिस रोज़ हम न रहेंगे, वह भी एक तारीख होगी। हमारा अस्तित्व उन ओर छोर पर बैठी तारीखों के बीच मे नपा-नपाया है। किन्तु जन्म की तारीख़ से

भी दुनिया थी और सब-कुछ था। मृत्यु की तिथि के बाद भी रहेगी और सब-कुछ रहेगा। अपने-आप ही आप मे जब-जब देखेंगे, तब-तब पायेंगे कि हमारी बहुत ही परिमित सत्ता है और ही थोडा वश है।

लेकिन इसके साथ ही अमिट-रूप मे हम जानते है कि जो है, नाश नहीं होता। सब परिवर्तनो के मध्य मे कुछ ध्रुव भी है परिवर्तन है, वह सदा है सदा था और सदा रहेगा। वह शाश्वत और परिवर्तनों के द्वारा वह शाश्वत ही अपने को सम्पन्न करता है। जानते हैं कि असंख्य वर्ष पहले जो था, वह भी हम से असम्बद्ध हीं है। हम आज अपने भीतर इतिहास के अतीत के साथ भी अपना अनुभव करते हैं। ऐतिहासिक पुरुषो की महत्ता हमें महत्ता की प्रेरित करती है। उस अतीत के ज्ञान में हमे रस मालूम होता है। का इतिहास, मालूम होता है, अब भी हमारी रगों मे सो रहा है और वह जग भी सकता है। सदियाँ हमें काल-क्षण-सी मालूम होती और हम जानते हैं कि हम परिमित प्राणी हैं। जान पडता है. इतिहास के भीतर भी हमीं हैं। हमीं वह है। आदिम मनुष्य ने जो भोगा और किया, उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के दीर्घकाल में भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी वह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना आज हमारे जीवन मे बीज-रूप से व्याप्त है। उसी के फल-स्वरूप हम आज हैं। नितान्त एकाकी स्वतन्त्र हम अपने-आपमें क्या हैं?

इस दृष्टि से चाहे हम परिमित हों, फिर भी अनन्त हैं। हम काल से भी नहीं बँधे हैं और न प्रान्त से ही। शत-सहस्र शताब्दियाँ हम में मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बडा है।

क्या हम भावी बदल सकते हैं? क्या हम अपने भी मालिक हैं? क्या हम अपने-आप में भाग्य-बद्ध भी नहीं है? क्या हमको माध्यम

बनाकर कुछ और महत्त्व नहीं व्यक्त हो रहा है जो हमसे अतीत है ? हमारा समस्त यत्न अन्ततः किस मूल्य का हो सकता है ? अनन्तकाल और अगाध विस्तार के इस ब्रह्माण्ड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत है ?

ऊपर की बात कही जा सकती है और उसका कोई खण्डन भी नही हो सकता। वह सत्य ही है। उस महासत्य के तले हमें विनीत ही बन जाना चाहिए। जब वह है, तब मैं कहाँ ? तब अहंकार कैसा ? जब हम (अपने आपके) सचमुच कुछ भी नहीं हैं, तब और किसको क्षुद्र मानें ? नीच किसको मानें ? तुच्छ किसको मानें ? हम उस महासत्य की अनुभूति के तले अपने को शून्य ही मान रखने का तो अभ्यास कर सकते हैं।

और बस। अहंकार से छुट्टी पाने से आगे हम उस महासत्ता के बहाने अपने में निराशा नहीं ला सकते, हम निराशा मे प्रमाद-ग्रस्त नही बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्य-वादी नहीं बन सक्ते। यह भी एक प्रकार का अहंकार है। प्रमाद स्वार्थ है, उच्छृङ्खलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगें कि हमारा अहंकार एक प्रकार से हमारी जडता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशा में भी पड सकने के लिए खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, वह एक व्यसन है, नशा है। नशीली चीज़ कडवी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते हैं। यही बात निराशा मे है। निराशा सुख-प्रद नहीं है। फिरभी लोग हैं जो उसके दुःख की चुस्की लेते रहने मे कुछ सुख की झोंक का अनुभव करते हैं।

जिसने इस महासत्य को पकड़ा कि मै नहीं हूँ, मै केवल अव्यक्त के व्यक्तीकरण के लिए हूँ, वह भाग्य के हाथ मे अपने को छोडकर भी निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बात को नही भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्त का वह अंग है। वह (साधारण अर्थों में) सुख की खोज नहीं करता, सत्य की खोज करता है। उसे वास्तव के साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नता की साधना मे, इस अत्यन्त

तव के साथ एकता पाने के रास्ते में जो कुछ भी विपत्ति उस पर
वे, जो खतरा, जो दुःख उसे उठाना पड़े, वह सब हर्ष से स्वीकार
ता है। इसलिए, उसका सुख समस्तता के साथ अविरोधी सुख
ा है। इस जगत् में विलास, दूसरे की पीडा पर परिपुष्ट होता हुआ
पडता है। वैसा विलासमय सुख निरहंकारी मानव के लिए अत्यन्त
ज्य बनता है।

हमने देखा कि चीज़ें बदलती हैं, देखा कि वे प्राकृतिक विकास-क्रम
अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्ति की अथवा घटना की
तन्त्र सत्ता नहीं है। और भी देखा कि किसी व्यक्ति के लिए अपने
ऊपर केन्द्रित होने और अपने ही लिए रहने का अवकाश नहीं है।
पने माने हुए) सुख से चिपटने और दुख से दूर भागने की छुट्टी भी
क्ति को नहीं है। विकास जब अपने-आपको चरितार्थ कर रहा है तब
क्ति के लिए बीच में अपने सुख-दुख पैदा कर लेना उचित नहीं है।
वन की स्वीकृति व्यक्ति का धर्म है, यों चाहे तो क्लेश उपस्थित करके
अपने को मार भी सकता है।

उसे हमने देखा। अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपने को संवेदना-
न बनाने की कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है? अपनी इन्द्रियों को
ा मार लेना होगा? अपने अन्दर की सुन्दर और असुन्दर, ग्राह्य
र घृण्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब
वेक-भावना क्या व्यर्थ है? अनादि काल से हमारे भीतर एक वस्तु
हर्ष से अपनाने और दूसरी को दृढ़ता से वर्जित रखने की जो अन्तस्थ
हज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है? क्या सबसे मुँह मोड़ कर काय-
लेश में 'स्टाइक रेज़िग्नेशन' (Stoic Resignation) में बन्द हो जाना
ा। क्या संवेदनहीन, प्रभावहीन बनने की ही साधना व्यक्ति के
ए सिद्ध होगी?

और ऐसा हुआ है। लोगों ने अपने को कुचलने में सिद्धि मानी
। उन्होंने अपने से इन्कार किया है, दुनिया से इन्कार किया है और

एक प्रकार से 'न' कार की साधना की है। उन्होने 'मै अपने को कुचल दूँगा' ऐसा संकल्प ठानकर कुचलने पर इतना जोर दिया है कि वे भूल गये हैं कि इसमे 'मै' पर भी आवश्यक रूप में जोर पडता है। 'मै' कुचलकर ही रहूँगा, यह ठान-ठानकर कुचलने मे जो जोर लगाता है, उसका वह जोर असल में 'अहं' के सिंचन मे जाता और वहीं से आता है। इस प्रकार, तपस्या द्वारा अपने को कुचलने मे आग्रही होकर भी उल्टे अपने सूक्ष्म अहं को अर्थात् 'मै' को, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनिया से मुँह मोडकर उस दुनिया की उपेक्षा और विमुखता पर अवलम्बित है वह अन्त मे मूलतः अहं सेवन ही का एक रूप है।

जो विराट्, जो महामहिम, सब घटनाओ में घटित हो रहा है, उसकी ओर से विमुखता धारण करने से आत्मैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीज़ें बदल रही हैं और उनकी ओर से निस्संवेदन, उनकी ओर से नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहने की साधना आरम्भ से ही निष्फल है। व्यक्ति अपने-आप मे पूर्ण नही है, तब सम्पूर्ण का प्रभाव उस पर क्यों न होगा? प्रभाव न होने देने का हठ रखना अपने को अपूर्ण रखने का हठ करने-जैसा है, जोकि असम्भव है। आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, उसे पूर्णता की ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिए जगद्गति से उपेक्षा-शील नही हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपने को स्वीकार करके उस जगद्गति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी भाँति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधर से निगाह हटाकर केवल अपने ऊपर उसे केन्द्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहने मे भी सिद्धि नही है।

तब यही मार्ग है (लाचारी का नहीं, मोक्ष का) कि हम घटनाओं को केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हे स्वयं घटित करें। क्या वास्तव के साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नही है?

वह वास्तव ही घटनाओं में घटित बनकर व्यक्त हो रहा है। तब हमारा अपना व्यक्तीकरण भी घटनाओं में ही होगा। हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुजारा नहीं, यह मानकर भी नहीं कि हम उसके स्रष्टा हैं। परिवर्तन का स्वीकार-भर करने के लिए हम नहीं है। उन परिवर्तनों को सम्पन्न करने के लिए भी हम है। विकास हो और वह विकास हमे अपने हाथ मे लेकर विकसित कर जाय, इसकी प्रतीक्षा करते नहीं बैठना होगा। हम स्वयं विकास मे प्रबुद्ध होगे और उसे सिद्ध करेंगे। हम स्रष्टा की प्रकृति के समभागी है। हम केवल उपादान, उपकरण ही तो नहीं है। हम कर्ता भी हैं। चीज़ें बदलती है वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है। मनुष्य का सत्य यह भी है कि हम चीज़ों को बदलते हैं, हम उन्हे बदलते रहेंगे। मनुष्य परिवर्तनीय है, इसीलिए तो कि वह परिवर्तनकारी है। मनुष्य विकासशील है, क्योंकि वह विकासशाली है। वह कर्मवेष्टित क्यों है? क्योंकि वह कर्म का स्रष्टा भी है।

निरा अ-बुद्धिवाद

सुना जाता है कि शुतुरमुर्ग, जो अफ्रीका के रेतीले मैदानों में होता है, विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रु की टोह पाता है तो और कुछ करता नहीं, रेत मे मुँह दुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भाव से जाकर उसका काम तमाम कर देता है। वह जानवर शुतुरमुर्ग इस भाँति शान्तिपूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरने की पद्धति से सहमत नहीं है। उसका मरना हमारे मन से कोई गलत बात नहीं है। उसकी बेवकूफी की सजा ही समझिए जो मौत के रूप में उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शुतुरमुर्ग मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो, लेकिन इतना कहकर बात को हम टालें नहीं। उसे कह देकर आदमी शायद स्वयं अपने को कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमे इसमें सन्देह है कि दूसरे को मूर्ख कहने के आधार पर खुद बुद्धिमान् बनने का ढंग ठीक है। तिस पर वह शुतुरमुर्ग क्यों मूर्ख है? और हम क्यों नहीं है? और मूर्ख होने में सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बाते सोचने की हैं।

घर मे एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती

बक्स या कुर्सी के पीछे होकर मुँह ढककर चिल्लाएगी—'अम्मों! को ढूँढ़ो' अगर अम्मा एक बार मे ध्यान नहीं देगी तो मुन्नी उलझ पडेगी। कहेगी—'अम्माँ, अरी अम्माँ, देख।' और जब अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होगी तब सामने दूर जाकर मुँह की ओट करके कहेगी—'मुन्नी नहीं है, अम्मा। मुन्नी नहीं है, मुन्नी को ढूँढ़ो।

तब मुन्नी की अम्माँ भी सारे कमरे मे इधर-उधर, कभी कलमदान के नीचे, कभी होल्डर के निब में, ग्लास मे या सुई के नकुए मे, यहाँ वहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नी को ढूँढ़ती है, कहती जाती है—'अरे मुन्नी कहाँ है?' कपडे को उलट-पलटकर—'अरे कहाँ है? मुन्नी, ओ मुन्नी!'

और मुन्नी सामने खडी-खडी चोरी-चोरी अम्माँ के यत्नो की विफलता देखकर और उसमें रस लेकर मुँह को दोनो हाथों से ढककर कहती है—'मुन्नी नहीं है अम्माँ। मुन्नी नहीं है। ढूँढो।'

अम्माँ बहुतेरा ढूँढती है, पर सामने खडी हुई मुन्नी नहीं मिलती। ओह! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है। मिलने के बाद ही दो कदम भागकर फिर मुँह दुबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—'अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो।'

मुन्नी को इस खेल मे बड़ा आनन्द आता है। हमें भी आनन्द आता है। हम कहते हैं—'मुन्नी है।' और वह भागकर किसी वस्तु की ओट लेकर कहती है—'मुन्नी नहीं है।' अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मन में इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्तापूर्वक समझावे। कहे, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखने पर औरों की अथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है, यथार्थता समझ, लडकी, और मूर्खता छोड। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करने के लिए कभी अपने को मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेल को हमने प्रसन्नतापूर्वक खेल

लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता गलत चीज है और हमे मुन्नी का उससे उद्धार करना चाहिए।

हमे सन्देह है कि मुन्नी को यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायँ तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ता को मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खता को स्पष्ट रूप मे तर्क-शुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी ग़लत है? जब वह कहती है कि 'वह नहीं है' तब भी वह ग़लत कहाँ है, क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि 'वह नहीं है।'

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणा से भिन्न क्या वस्तु है? भिन्न होकर वह है भी या नहीं?—यह अभी निर्णय होने में नहीं आया। कभी न आयेगा। अकाट्य-रूप में हम यह कह सकते है कि सम्पूर्ण सत्य मानव के लिए चिर-अप्राप्य, अत. चिर-शोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्य से बाहर भी व्याप्त नहीं है? जो बाहर भी है वह मनुष्य के भीतर ही कैसे समायेगा? उस सर्वव्यापी सत्य की मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयं मे सत्य नही हैं। अपने सब ज्ञान के मूल मे 'हम' हैं। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ-न-हुआ एक-सा है। हर सत्य को अपनी सत्ता के लिए हम पर इस निमित्त निर्भर रहना होगा कि हम उसे जाने। यह बात साफ है। इसको समझने से कोई इन्कार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बात की मान्यता से बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हम से अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नही जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शुतुर-मुर्ग को गलत और अपने को ठीक कहे।

शुतुरमुर्ग को तो शायद हम ठीक न कह सकेंगे। उसको ठीक कहने के लिए हमें अपने को इन्कार करना होगा। हम तो दोनो को देखते हैं

न—शुतुरमुर्ग को भी, उसके शत्रु को भी—इसलिए रेत मे सिर दबाकर शत्रु से बचने की शुतुरमुर्ग की चेष्टा को हम सही कैसे कह सकते हैं ? और शुतुरमुर्ग के ग़लत होने का प्रमाण उसी के हक़ मे यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इसलिए यह तो असम्भव है कि शुतुरमुर्ग ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते है, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी गलती शुतुरमुर्ग से इतनी ही भिन्न हो, कि हम शुतुरमुर्ग न होकर आदमी हैं। अन्यथा कैसे कहे, कि यथार्थ मे हम दोनों मे बुद्धि की अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि शुतुरमुर्ग बुद्धि से शुतुरमुर्ग है, लेकिन बातचीत मे आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा ? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नही दीखता है, वह इसीलिए तो नहीं दीखता है कि नहीं है'—शुतुरमुर्ग के ज्ञान ता तल यह है। हम मानव उसे थोथे अज्ञेयवादी, अदृष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होने में क्या प्रयोजन ? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है। और शुतुरमुर्ग के निकट जो दृश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानव-रूपी शुतुरमुर्ग का जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—'जो अनिष्ट है, उसे मिटाने का सीधा उपाय है उसे न देखना। अनिष्ट पर इसी भाँति विजय होगी। अनिष्ट यों ही असत् होगा। इसलिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मीच लो। भय की आशंका और सन्देह की शंका से इस भाँति मुक्ति प्राप्ति होगी।'

अब, क्या मानव-बुद्धि-द्वारा निर्मित तर्क सम्मत नीति भी लगभग इसी प्रकार की नहीं है ?

उस नीति पर चलने से शुतुरमुर्ग शत्रु से नहीं बच पाता। शत्रु को उलटे अपनी ओर से वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता

है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रान्त है। हम भी खुद ऐसा मानते हैं।

पर उस नीति को (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालत में यह कहा जा सकता है कि मरना तो सबको है। कौन नही मरता? असल दुश्मन मौत है। किसी और को दुश्मन भला क्यों मानें! कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवता का साधन है वाहन है। असल में तो भाग्य के पंजे मे सब है। यम उसी भाग्य का प्रहरी है। उसके हाथ से तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमे आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचने का नहीं है, और मुँह दुबका लेने से क्या शुतुरमुर्ग़ सचमुच भय से छुटकारा नहीं पा जाता? फिर वह मर भी जाय तो क्या?

मानना होगा कि प्रश्न अन्त में किसी भी शत्रु से बचने का उतना नहीं है। उतना क्या बिलकुल भी नही है। तमाम प्रश्न (उसके) भय से बचने का है। यह तो हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौत के चंगुल से बचना नही होगा। इस प्रकार के सब प्रयत्न निष्फल होंगे। अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरने की घडी हम सीधे ढंग से मर जायँ, पर मरने से पहले थोडा भी न मरें, अर्थात् मरने के भय से बचे रहे।

क्या यही लक्ष्य नहीं है? और क्या इसी लक्ष्य के साधन में मनुष्य ने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नही आविष्कृत किये? फिर शुतुरमुर्ग़ को मूर्ख क्यों कहते हो?

शुतुरमुर्ग के वकील के जवाब मे क्या कहा जाय? पर एक तो भय से बचने की पद्धति स्वयं भय-का-भय है। यह शुतुरमुर्ग की है। अधिकांश में मानव के यत्न भी उसी पद्धति के हैं। पर दूसरा, भय को निर्भयता से जीतने का उपाय है। इसमे भय से छिपा नहीं जाता,

स पर विजय पाई जाती है। उसका सामना किया जाता है।

शुतुरमुर्ग ने अपने को रेत में गाड लिया और भय से बचा लिया। भाँति वह सहज भाव से मर गया। आदमी ने धर्म की सृष्टि की, उसमे अपने को गाड लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भाव से मर गया। धर्म से उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मन्तव्यों की सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाडे रखकर वह हार्दिकतापूर्वक मर गया। असल में सब बात मरते समय सहज भाव रखने की है। जो जितना निर्भय है, सरल भाव से मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धि की निगाह को बाँधकर कहीं-न-कहीं गाड लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड लेना जरूरी है। पर इसमें और शुतुरमुर्ग की क्रिया मे अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धाप्रेरित हो सकती है।

एक प्रकार के मतवादी है जो तर्कपूर्वक सिद्ध करते है कि आँख चारो ओर देखने के लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तु का पल्ला पकडकर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरह की साइंसो के चौखूँटे नकशे बनाकर दिया करते है।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञान की बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेचनशील, सम्भ्रान्त और सुखमय होता है। ये लोग सब बातो को तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसी पर श्रद्धा नहीं रखते, किसी पर फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे रूढ़ि पर चलने वाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौत का इन्हे बडा भय होता है। दूसरे की भी और अपनी भी मौत का। मौत की व्याख्या तटस्थ भाव से ये करते है, पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धा के कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भय के आधार पर खड़ी होती है। भय मे से नियम-कानून,

पुलिस-फौज, अदालत जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते है। भय अद्भुत-रूप में सहनशील है। वह ज़बर्दस्त शक्ति को उत्पन्न करता है। भय-जात साहस और भय-जात बल में आसुरी प्रबलता है। भय एक दृष्टि से उपकार भी करता है। उससे निर्भीकता की अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होती है। भय निस्सन्देह उन्नति के मार्ग मे बहुत जरूरी है। पर भय उभय है। उससे मौत पास खिंचती है। वह मौत का न्यौता है।

श्रद्धा मे से शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते है। श्रद्धा मौत को प्रेम भी कर सकती है। इसलिए नहीं कि वह मौत है, बल्कि इसलिए कि श्रद्धा जानती है कि मृत्यु जीवन की दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्ण की मौत है तो इसी निमित्त कि नूतन की सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मीचती। वह आँख खोले रखकर मौत में जीवन के सन्देश को और शत्रु मे बन्धु को पहचानती है।

हम कह सकते है कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुतुरमुर्ग़ नहीं है, पर हम उस मतवादी से कैसे पार पाएँ जो मनुष्य को इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उसके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादी को शुतुरमुर्ग का वकील कहते हैं।

मुझे इसमें सन्देह है कि आँख एक ही बार मे चारो तरफ देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पल मे एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धि मे दृश्य को (Perspective) देखने की शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। (Perspective) की शक्ति अर्थात् दृश्य की विभिन्नता मे एकता देखने की शक्ति। इसी प्रकार व्यक्तित्व को चहुँमुखी होने के लिए एक निष्ठा की आवश्यकता है। शंका के सामर्थ्य के लिए निश्शंकित चित्त चाहिए और अन्वय की शक्ति के लिए समन्वय की साधना चाहिए। मुझे इसमे बहुत सन्देह है कि वह बुद्धि जो चारो ओर जाती है, किसी भी

दूर तक जा सकती ह । मुझे इसमे भी बहुत सन्देह हैं कि जिसको का संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती बुद्धि अपने-आप मे बन्ध्या है। वह भय मे से उपजा है और भया-बुद्धि लगभग शुतुरमुर्ग-जैसी है। उससे निस्सन्देह मदद बहुत भी है। उसकी मदद से व्यक्ति थोडी-बहुत निर्भयता भी सम्पादन हैं; पर वह अन्तत· मन को उठाती नही है और स्वयं भी नहीं है।

किसी बृहत्तर अज्ञेय मे अपने को गाड देने से हम अपने को नहीं बनाते। अपनी बुद्धि के भीतर रत रहने से जैसे हम ह्रस्व हैं उसी भाँति श्रद्धापूर्वक विराट् सत्ता के प्रति समर्पित हो रहने हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदि की भावनाएँ मनुष्य की इसी प्रकार अभ्युदय-स्फूर्ति का फल है और वह भावनाओ द्वारा अपने ही घेरे से ऊँचा उठता है।

शुतुरमुर्ग की कथा मनुष्य पर ज्यो-की-त्यो लागू है, अगर वह भय को जीतने क लिए अपनी भयाक्रान्त धारणाओं में ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथा के उदाहरण के प्रयोग से बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत-कुछ बाहर हो जाते हैं जबकि अपने बचाव की चिन्ता नहीं करते प्रत्युत् (मालूम होने वाले) शत्रु के सम्मुख बढ़ चलते हैं। शत्रु को जब हम अपने से भिन्न देखते ही नही और उससे भागने की जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न-प्रेम भाव से उसे अपनाते है, फिर इसमे चाहे हमे उसके हाथों मौत ही मिले। पर मौत में हार नही है, हार तो भय में है। मौत तो जीवन-तत्त्व की प्रतिष्ठा में नियुक्त एक सेविका-मात्र ही है।

हमारे घर की जो मुन्नी अपनी आँखें मूँदकर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असल में वह हममें से अधिकांश की बुद्धि की प्रतिनिधि है। न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्कर मे पड़े हैं। बुद्धि पग-पग पर हमें बहकाती और फुसलाती है। वह प्रवंचना है,

वह भय की प्रतिक्रिया है। भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थना की ओर ले जाय। श्रद्धा भय का काट है। भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभाव की ओर ले जाता है। हम जान रक्खें कि एक साहस है जो भय मे से उपजता है। वह आवेश-युक्त, ज्वराक्रान्त और पर्याप्त से अधिक तीखा होता है। वह दूसरे को डराकर अपने को साहस सिद्ध करता है। वह चमत्कृत भय का प्रतिरूप है। हमारी बुद्धि भी अहजन्य भीरु साहसिकता को अपनाती और पोसती है, पर वह साहस सस्ती चीज़ है और नकली है। वैसी साहसिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है। शराब पीकर जो दुर्बल बडी डींगें हाँकता है, वह डींग उसकी उस दुर्बलता को ही व्यक्त करती है। कृपया कोई उन्हे बल न समझे। हमारी बुद्धि बडी ठगिनी है। क्षीण-शक्ति पुरुष क्यो शराब की ओर जाता है? इसीलिए कि वह अपने को ठगना चाहता है। नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है। कुछ देर तक के लिए क्यो न हो वह अपने से बचने के लिए नशे का सहारा पकडता है। बुद्धि हमे बताती है कि हम-हम हैं और वह अमुक हमारा शत्रु है और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमे भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर-बाहर के द्विभेद पर हमारी बुद्धि अपना किला बाँधे बैठी है। वह हमे परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमे भय के मार्ग से अपने उन इस या उस शत्रु से बचने या बदला लेने के नाना उपाय निरन्तर सुझाती रहती है। पर ये सब शुतुरमुर्ग या शिकारी के उपाय हैं। वे सब मौत के निमन्त्रण के रूप हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेद की झाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत् के प्रति दृढ और परमात्मा के प्रति व्यक्ति को कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट, अजेय और अमर बनता है। वह मरता है पर अमर होने के लिए, क्योकि मृत्यु में उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अज्ञेय मे से रस लेती है और

में अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त मुक्त होती जाती है। वह घेरती नहीं, बाँधती नहीं। काट-फाँस वाली लकीरें वह नहीं उपजाती। वैसी विधि-निषेध की लकीरें और उनकी धार तीखी भी कर दी जाती है। मुक्त-बुद्धि सापेक्षता इन्हें निभाती ही है, उन्हें स्वयं सत्य नहीं बनने देती, बल्कि अपने व्यवहार से वह उनको उत्तरोत्तर अधूरी, ओछी और मिथ्या कर पाती है। वह श्रद्धा से तद्गत है, इससे अविकारी है। उससे वादवादी जो बुद्धि है, अहंग्रस्त है। सच पूछिए तो वह अबुद्धि है। इस तरह देखें तो मनुष्य का बुद्धिवाद निपट अबुद्धि का ही वाद दीखेगा। और उसका अहंकार करना हम छोड़ देंगे।

दूर और पास

जब दूरबीन पहले-पहल हाथ आई तब विलक्षण अनुभव हुआ। सुना था उससे दूर की चीज़ पास दीख आती है। लेकिन मैंने देखा तो पास की चीज़ दूर हो गई थी। पीछे पता चला कि मैने दूरबीन की उल्टी तरफ़ से देखा था। फिर सीधी तरफ से देखा तो बात सही थीं। दूर की चीज़ बेशक पास दीखती थी। लेकिन इस गलती से भी लाभ हुआ। जब पास की चीज़ को दूर बनाकर देखा तब दृश्य की सुन्दरता बढ गई जान पडती थी। दूर की चीज़ पास आ जाने से दृश्य मे मोहकता उतनी न रह गई थी। पता चला—

दूरी मोह पैदा करती है—Distance lends Cham, दूरी मिट जाय तो सुन्दरता के बोध के लिए गुंजायश नहीं रहेगी।

यह तो राह चलने की बात हुई। लेकिन जिस विचित्र अनुभव का जिक्र यहाँ करना है वह यह है कि जो चीज एक ओर से दूर को पास करती है, वही दूसरी ओर से पास को दूर बना देती है।

अर्थात् दूर होना और पास होना ये कोई निश्चित स्थितियाँ नहीं है। वे अपेक्षापेक्षी है। उनमें अदल-बदल हो सकता है।

दूरबीन की मदद से ऐसा होता ही है। लेकिन बिना दूरबीन के भी आँख नित्यप्रति ऐसा करती है, यह भी सही है। आँख में तर-तमता की शक्ति है। जो पास की चीज़ को देखती है वही आँख कुछ दूर की चीज़ भी देख लेती है, आँख को नसें यथानुरूप फैल-सिकुड कर आँख की इस शक्ति को कायम रखती हैं।

वस्तुओं का मूल्य भी इस पर निर्भर करता है कि हम उनसे कितने अथवा कितने दूर हैं। क्योंकि, दूरी और निकटता निश्चित मान नहीं हैं, इसी से किसी वस्तु का एक ही मूल्य नही है। वह अलग-अलग लोगों की निगाह में अलग-अलग है, और देशकाल अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

दूर की बडी चीज़ छोटी लगती है, पास की छोटी बड़ी। आँख के दो उँगली खडी कर लें तो सूरज ढक जाता है। पर सूरज बहुत है, दो उँगलियों की चौडाई उसके सामने भला क्या है। फिर पास होने से मेरे हिसाब से दो उँगलियाँ सूरज से बडी बन जाती और सूरज को देखने से रोक सकती हैं। पास का पेड बडा दीखता दूर का पहाड उभरी काली लकीर-सा दीखता है।

परिणाम निकला कि बाहरी छुट-बडपन कोई निश्चित मान का व नहीं है, वह प्रयोजनाश्रित तथ्य ही है।

इसलिए, असल प्रश्न यह हो रहता है कि हमारी तर-तमता की कितनी है? आँख की दृष्टि की वह शक्ति तो परिमित ही है, किन मन की दृष्टि की शक्ति का परिमाण वैसा बँधा नहीं है। वह तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। मन की दृष्टि-शक्ति का नाम है—
।

जो नहीं दीखता, कल्पना उसे भी देखती है। जो पास है, कल्पना से भी दूर बना सकती है। जो बहुत दूर है, कल्पना उसे भी खींच प्रत्यक्ष कर देती है।

कल्पना दूरबीन की भाँति बडी उपयोगी चीज़ है। पर उसके पयोग की विधि आनी चाहिए। अन्यथा वह कीमती खिलौने से धिक कुछ नहीं रह जाती।

पर नहीं, वह हर हालत में क़ीमती खिलौने से अधिक है। क़ीमती खलौना तो ज्यादा-से-ज्यादा टूट भर रह जायगा। पर कल्पना खुद नहीं टूटती, अ दमी को तोड़ती है। इसका ग़लत उपयोग हुआ तो

वह आदमी को तोड-मोडकर पशु बना सकती है। उसके ठीक इस्तेमाल से आदमी देवता बन जाता है, इसलिए, कल्पना खिलौना नहीं है और उससे खेलने में सावधान रहना चाहिए।

दूरबीन जिसके पास पैसा है वही बाजार से ला सकता है, पर कल्पना तो सभी को मिली है। उसके लिए किसी को भी किसी बाज़ार मे भटकना नहीं है। वह भीतर मौजूद है। सवाल इतना ही है कि उसका इस्तेमाल होता रहे और वह मैली न हो, और न ढीली-ढाली हो जाय। ठीक काम के लायक रहे और वह बहके नहीं।

सच बात यह है कि जैसे निगाह खराब होने का मतलब यही है कि उसमें दूर को ठीक दूर और पास को ठीक पास देखने की शक्ति नहीं रह गई है वैसे ही बुद्धि की खराबी का मतलब सिवा इसके कुछ नहीं है कि कल्पना की लचक उसमे कम हो गई है।

हमारा रोज़ का अनुभव है कि अगर अपने ही हाथ को हम अपनी आँखों के बहुत निकट लाते चले जायँ तो अन्त मे आँख काम नहीं देगी और मालूम होगा कि जैसे हाथ रहा ही नहीं है। किसी भी तसवीर को हम पास से और पास देखने का आग्रह करके उसे सिर्फ धब्बा बना दे सकते हैं। यहाँ तक कि उसे अपनी आँख से बिलकुल सटा लेकर कह सकते हैं कि वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि हमें कुछ भी नहीं दीखता है। इस भाँति हरेक सुन्दरता जरूरत से अधिक पास ले लेने पर असुन्दर और फिर असत् हो जायगी।

इसलिए, हमारा प्रत्येक के प्रति एक प्रकार का सम्मान का अन्त चाहिए ही। उस अन्तर को मिटाकर भोग की निकटता पैदा की कि वहाँ सुन्दरता भी लुप्त हुई।

यह रोज़ का ही अनुभव है। हम चीज़ो को देखते हैं और वे सुन्दर लगती हैं। सुन्दर लगती हैं, तो हम उन्हे चाहने लगते हैं। चाहने लगते हैं तो उन्हे पाने की लालसा करते हैं। इस लालसा की बुद्धि से हम उन्हे छूते है, पकड़ते हैं अर्थात् उन्हे मर्यादा से अधिक

निकट ले लेते हैं। परिणाम होता है कि हमारा सम्भ्रम मिट जाता और जिसको मनोरम मानकर चाहा था वह धीमे-धीमे वीभत्स होता है और हमारे चित्त को ग्लानि होने लगती है। तब उकताकर छोड़ हम दूसरी ओर लपकते हैं। पर वहाँ भी वही होता है वहाँ भी अन्ततः ग्लानि हाथ आती है।

अनुभव मे आया है कि जिस जगह में हमें बिलकुल दिलचस्पी हीं हुई है, वहाँ के फोटोग्राफ़ लुभाने हो जाते हैं। खण्डहर हमारी गाह में खण्डहर है लेकिन उसी का चित्र कभी हमारे लिए इतना हो जाता है कि हम सोच भी नहीं सकते थे।

यह इसीलिए कि फोटोग्राफ़ से हमारी पर्याप्त अलहदगी है। फ़ोटोग्राफ़ मे हम उस दृश्य को एकत्रित भाव में देख सकते हैं। आग्रह हमारा मन्द है। वहाँ हमारे मन की स्थिति से विलग भी उसकी है। मानो उस चित्र का अस्तित्व ही नही, व्यक्तित्व है।

परिणाम यह कि दूरी भी कभी बिलकुल नष्ट नहीं हो जानी चाहिए! दूरी बिलकुल न रहे तो आँख बिलकुल न देख पाये, बुद्धि बिलकुल न समझ पाये। और मन पर ज़ोर इतना पडे कि ठिकाना नहीं और तिस पर भी चहुँ ओर सिवा अँधेरे के कुछ न प्रतीत हो।

सब वस्तुओं, सब स्थितियों, सब दृश्यों और व्यक्तियो के प्रति यह समादर की दूरी इष्ट है। इसको विनय-भाव कहिये, अनासक्ति कहिये, असंलग्नता कहिये, दृष्टि की वैज्ञानिकता कहिये—चाहे जिस नाम से इसे पुकारिये। सम्बन्ध में एक प्रकार की तटस्थता ही चाहिए। जो भी हम छू रहे, देख रहे, चाह रहे हैं, ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपना भी स्वत्व है। वह प्रयोजनीय पदार्थ ही नही है। वह भी अपने-आप में सजीव और सार्थक हो सकता है। उसमें भी वह है, जो हम मे है। एक ही व्यापक तत्त्व दोनों में है। जो हम हैं वही वह है। इसलिए किसी अविनय का अथवा आहरण का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? सम्बन्ध प्रेम, आनन्द और कृतज्ञता का हो सकता है।

जिसको कल्पना कहा, उसका इसी जगह उपयोग है।

जो हम हैं वह तो कोई भी नहीं है। हम जैसे बुद्धिमान हैं, क्या कोई दूसरा वैसा हो सकता है? साफ बात तो यह है कि हम हमीं हैं। कोई भला हम जैसा क्या होगा? असंस्कारी अहंकारी बुद्धि इसी प्रकार सोचती है।

लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि ऐसा सोचने वाले की कल्पना-शक्ति क्षीण हो गई है। कल्पना हमे तुरन्त बता देती है कि हम अनेको में एक हैं और अपने मे अहंकार अनुभव करने का तनिक भी अवकाश नहीं है। वह कल्पना हमें बताएगी कि दूसरे मे भी अहंकार हो सकता है, और रहे, और उस अहंकार का खयाल रखकर चलना ही ठीक होगा। वह कल्पना हमे सब के अलग-अलग स्थान समझने मे मदद देगी और सुझाएगी कि समस्त के केन्द्र हम नहीं हैं जैसा कि हम आसानी से समझ लिया करते हैं।

वैसी तटस्थता की दूरी जगत् और जगत् की वस्तुओ के साथ स्थापित करने के बाद आवश्यक है कि हम उनमे भावना की निकटता भी अनुभव करें। दूरी तो है ही, पर निकटता और भी घनिष्ठ भाव से आवश्यक है। वैसी निकटता का बोध जीवन मे नहीं है तो जीवन में कुछ रस भी नहीं है।

जिस शक्ति से यह हो, उसका नाम है भावना। यह भावना अभेद-मूलक है। 'नष्ट करती है' का आशय यह कि उसके फासले को यह रस से भर देती है।

जब पहले-पहल खुर्दबीन में से झाँककर देखने का अवसर हुआ था, तो आश्चर्य में रह जाना पडा था। बाहर कुछ भी नहीं दीखता था, एक नन्हा—बहुत ही नन्हा-सा पत्ते का खण्ड डैस्क पर रखा था। वह है, इसमें भी शक हो सकता था। उसकी हस्ती कितनी थी। साँस उस पर पड़े तो बेचारा उडकर कहाँ चला जाय, पता भी न चले। लेकिन खुर्दबीन में से जब देखता हूँ तो देखता हूँ कि क्या कुछ वहाँ

है। जो आश्चर्यकारक है, जो महान् वह सभी कुछ वहाँ पर भी एक दुनिया-की-दुनिया उस पत्ते के खण्ड के भीतर समाई है। का टूक क्या कभी पूरी तरह जाना जा सकेगा? उसमें कितना है, कितना सार। उसमे क्या अगाध अज्ञेयता नहीं है? जाने फिर भी जानने को वहाँ बहुत-कुछ शेष रह ही जायगा। खुर्द-में से उस बिन्दी-भर पत्ते को मैने इतना फैला हुआ देखा कि वही विश्व हो। उसमे मानो नगर थे, मैदान थे, समुन्दर थे। वहाँ से आँख हटाने पर क्या मैने नहीं देख लिया कि हरी-सी जितने आकार के उस पत्ते की सत्ता इस जगत् मे इतनी हीन है, हीन है कि किसी भी गिनती के योग्य नही है।

फिर भी वह है, और नहीं कहा जा सकता कि अपने मे वह स्वतन्त्र नहीं है। वह खन्ड वैसा ही स्वयं हो सकता है जैसा मैं अपने वयं हूँ। तब कैसे उसके प्रति अविनयी हो सकता हूँ?

यहीं भावना की आवश्यकता है। कल्पना ने मुझे मेरा स्थान । उसने मुझे स्वतन्त्रता दी, उसने मुझे अपनी ही मर्यादाओं ऊँचा उठाया, उसने मुझे अनन्त तक पहुँचने दिया और मेरी सान्तता बन्धन की जकड को ढीला कर दिया।

भावना उसी मेरी व्यापकता मे रस प्रवाहित करेगी। उसमें अर्थ जो दूर है उसे पास खींचेगी। भावना से प्राणों में उभार । और जिसे कल्पना ने सम्भव देखा था, भावना उसी को सत्य

जो ब्रह्माण्ड में है पिण्ड मे भी वह सभी कुछ है। ब्रह्माण्ड को की ओर कल्पना उठी, तो भावना उसी सत्य को पिण्ड मे पा लेने साधिका हुई। (Extensity) "विस्तृत" मे नही, (Intensity) नता' द्वारा ही वह सम्पूर्ण अपनाएगी। दर्शन की मर्यादा अगम है, प्रीत-भक्ति की क्षमता उससे भी गहरी जायगी। प्राणों का उभार ension) कल्पना की उड़ान से अधिक सार्थक हो सकेगा। उससे

उपलब्धि गम्भीर होगी।

कल्पना और भावना ये दोनो ही जीवन की प्रगति के मूल मे हैं। दोनो अनिवार्य हैं, दोनो अमूल्य हैं। पर दोनो का खतरा भी बहुत है। दोनों से मनुष्य विराट् की ओर बढ़ता है, पर इन्हीं से वह अपना विनाश भी बुला सकता है।

भावना से जब हम परस्पर मे क्लेश-क्लिष्ट दूरी पैदा करते है और कल्पनाहीन बुद्धि से लालसाजनित निकटता मे रमण करते है, तब ये ही दोनों शक्तियाँ हमारी शत्रु हो जाती हैं। और हमारा अनिष्ट साधन करती हैं। जो मेरे पास है, वह मेरा स्वत्व नहीं है, क्योंकि उसका अपने मे अलग स्वत्व भी है। कल्पना-हीन होकर हम प्राणो को ऐसे पाते है, मानो उसकी सार्थकता हमारे निकट प्राप्त होने में ही है। यह हमारी भूल है और इससे हमारी अपनी ही प्राप्ति का रस ह्रस्व होता है। यही मानव का मोह और अहंकार है।

दूसरी ओर भावना को हम दुर्भावना बना उठते हैं और उसके सहारे परस्पर की निकटता नहीं बल्कि दूरी बढ़ा लेते है। मन ही एक हो सकता है, तन अनेक है। पर मन हम फटने देते है और तन की निकटता के कामुक होते है। नतीजा इसका विनाश है।

जो दूर है उसे दूर, जो पास है उसे पास जानना होगा। फिर भी जानना होगा कि दूर है वह भी पास है और जो पास मालूम होता है, उसे भी दूर रखने की आवश्यकता हो सकती है। तन जुदा-जुदा हैं, आत्मा एक है। आत्मैक्य को कल्पना द्वारा प्राप्य और भावना द्वारा सुलभ बनाना होगा। और अपनी एवं सबकी, देह की अभिन्नता के प्रति सम्मान और सम्भ्रम का भाव रखना होगा। सबके स्वत्व का आदर करना होगा, किसी स्वत्व का आहरण गर्हित समझना होगा। यही दूर-पास का भेद है। इस दूर और पास की तर-तमता का भेद हमने खोया तो समझो अपने को ही खोया। उसको जानकर हम अपने को पाने का प्रयत्न करे, यही शुभ है।

उपयोगिता

शायद चौथी क्लास मे आकर अँग्रेज़ी की पहली किताब के पहले बक मे हमने पढा—'परमात्मा दयालू है। उसने हमारे पीने के लिए बनाया, जीने के लिए हवा, खाने के लिए फल-मेवा आदि-

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं। हम भोले नहीं थे। बच्चे थे, पर बुद्धिमान् किसी से कम नहीं थे। पूछा—'क्यों मास्टर जी, -कुछ ईश्वर ने बनाया है ?'

मास्टर जी बोले—'नहीं तो क्या ?'

जहाँ हम पढते थे वहाँ हवा आधुनिक थी। बालकों मे स्वतन्त्र जागे यह लक्ष्य था। हमने कहा—'तो उस ईश्वर को किसने है ? और उस ईश्वर ने कहाँ बैठकर किस तारीख़ को यह सब-बनाया है ?'

मास्टर जी ने कहा—'पढो-पढो। वाहियात बातें मत करो।'

जी हाँ, वाहियात बात ! पहली मे नहीं, दूसरी मे नहीं, तीसरी मे नहीं, चौथी क्लास में हम थे। हमे धोखा देना आसान नहीं था। और कुछ जानें न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है। यह भी जानते थे कि ईश्वर ने सभ्यता का बहुत नुकसान किया है। वह पाखण्डी है। उससे छुट्टी मिलनी चाहिए। सो, उस सबक पर हमने मास्टर जी को चुप कराके ही छोडा। मास्टर जी की एक भी बात हमारे हाथों साबित नहीं बची, सब हमने काट-फाँट फेंकी। मास्टर झुँझलाकर तब

इतना ही कह पाये—'पढ़ो-पढो।'

मास्टर जी पर हमने दया की कि सबक आगे भी पढ़ा। लेकिन उस समय दो बातें हम निर्भ्रांत रूप में जान चुके थे—

१. कि ईश्वर कुछ नहीं है और हो तो फिजूल है और उसने कुछ नहीं बनाया।

२. कि जो कुछ है हमारे लिए है। सृष्टि में सार है, हम सेवक हैं।

दस बरस का वह (मैं) नवीन बालक पैंतालीस-पचास बरस के आज के मुक्त जीर्ण बालक से अधिक अज्ञान था, यह मै नहीं कह सकता। अज्ञानी मै जैसा-का-तैसा हूँ। बीच मे इतना अन्तर अवश्य पडा है कि पैंतीस-चालीस वर्ष के अनुभव का मैल मेरे सिर और चढ़ गया है। मन की स्वच्छता में दस वर्ष के बालक से मेरी कोई समता नही है। इतने बरसो की दुनियादारी की मलिनता से मै आज मलिन हूँ। बालक की भाँति मेरी बुद्धि कहाँ स्वतन्त्र है?

इसलिए आप भला करे कि मेरी बात न सुनें। फिर भी अगर आप इस बात को सुनना गवारा करते है तो मै विश्वासपूर्वक कहे देता हूँ कि न खेलता पानी हमारे लिए है, न बहती हवा हमारे लिए है। न सूरज की धौली धूप, न चाँद की छिटकी चाँदनी तनिक भी हमारी हो सकती है।

पहाड़ आसमान मे उजला माथा उठाए धूप से झक-झकाता हुआ खडा है। फलो से लदे पेड नम्र भाव से हौले-हौले झूम रहे है। खेतो मे पौधो के शीर्ष पर पक्के अन्न की सुनहरी बालें झूमर-सी लटक रही हैं। घास बिछी है। आकाश है। बादल लहर-लहर भाग रहे हैं। यह सब-कुछ है, पर यह मेरे बिना भी है। मेरे निमित्त नहीं है, मै उनके निमित्त हूँ। सब सबके लिए है और कुछ मेरे लिए नहीं है।

मै यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ। लेकिन यह भी कहता हूँ कि आप उसे विवेकपूर्वक ही स्वीकार करे।

पर ज़रा ठहरिए। इस बातचीत के आरम्भ से ही एक भाई मेरे

बैठे हैं। अधीर हैं, शायद कुछ कहना चाहते हैं। इजाज़त दें तो बात सुन लूँ।

हाँ भाई, क्या कहते हो? कहो, कहो, सकुचाओ मत।'

कहता यह हूँ' उन्होंने कहा, 'कि आप बूढ़े हो गये है। आपकी सठिया गई है। आप चौदहवीं सदी में रहते है। खेत में अनाज बोता है?—हम बोते है। किसलिए बोते हैं?—अपने खाने के बोते हैं। अगर उस अनाज के होने में कोई अर्थ है तो यह अर्थ हम उसे खाएँ। जो है वह अगर हमारे लिए नही है तो किसके है?

यह भाई विद्वान् मालूम होते है। अच्छी समझदारी की बात हैं। लेकिन—

"आप चुप क्यों हो गये?' उन भाई ने टोककर कहा, 'आप बहक हैं'—मैंने क्षमा-प्रार्थनापूर्वक विश्वास दिलाया, 'मैं सुन रहा हूँ, रहा हूँ।'

'सुन रहे है तो सुनिए' वह बोले, 'हमारे माथे में आँखें है। बाहुओं में बल है। आपकी तरह मौन की प्रतीक्षा ही हमारा नहीं है। प्रकृति का जितना वैभव है, हमारे लिए है। उसमे जो है इसलिए कि हम उसे उद्घाटित करें। धरती में छिपा जल है सलिए कि हम उस धरती को छेद डालें और कुएँ खोदकर पानी लें। धरती के भीतर सोना-चाँदी दबा है और कोयला बन्द है—हम हैं कि धरती को पोला करके उसके भीतर से सब कुछ उगलवा आप कहिए कि कुछ हमारे लिए नहीं है तो बेशक कुछ भी आपके न होगा। पर मैं कहता हूँ कि सब-कुछ हमारे लिए है; और तब, भी हमारी मुट्ठी मे आये बिना नही रह सकता।'

वह विद्वान् पुरुष देखने से अभी पकी आयु के नहीं जान पड़ते। की देह दुर्बल है, पर चेहरे पर प्रतिभा दीखती है। ऊपर की बात हुए उनका मुख जो पीला है, रक्ताभ हो आया है। मैंने पूछा,

'भाई, आप कौन हो ? काफी साहस आपने प्राप्त किया है।'

'जी हाँ, साहस हमारा हक है। मैं युवक हूँ। मैं वही हूँ जो स्रष्टा होते हैं। मानव का उपकार किसने किया है ? उसने जिसने कि निर्माण किया है। उसने जिसने कि साहस किया है। निर्माता साहसी होता है। वह आत्म-विश्वासी होता है। मै वही युवक हूँ। मै वृद्ध नहीं होना चाहता।'

कहते-कहते युवक मानो काँप आये। उनकी आवाज़ काफी तेज़ हो गई थी। मानो किसी को चुनौती दे रहे हों। मुझे नही प्रतीत हुआ कि यह युवक वृद्ध होने में सचमुच देर लगाएँगे। बाल उनके अब भी जहाँ-तहाँ से पक चले हैं। उनका स्वास्थ्य हर्षप्रद नहीं है और उनकी इन्द्रियाँ बिना बाहरी सहायता के मानो काम करने से अब भी इन्कार करना चाहती हैं।

मैंने कहा, 'भाई, मान भी लिया कि सब-कुछ हमारे लिए है। तब फिर हम किसके लिए हैं ?'

युवक ने उद्दीप्त भाव से कहा, 'हम किसके लिए है ? हम किसी के लिए नहीं हैं। हम अपने लिए हैं। मनुष्य सचराचर विश्व में मूर्धन्य है। वह विश्व का भोक्ता है। सब उसके लिए साधन हैं। वह स्वयं अपने-आप में साध्य है। मनुष्य अपने लिए है। बाकी और सब कुछ मनुष्य के लिए है—'

मैंने देखा कि युवक का उद्दीपन इस भाँति अधिक न हो जाय। मानव प्राणी की श्रेष्ठता से मानो उनका मस्तक चहक रहा है। मानो वह श्रेष्ठता उनसे झिल नहीं रही है। श्रेष्ठता तो अच्छी ही चीज़ है, पर वह बोझ बन जाय यह ठीक नहीं है। मैंने कहा, 'भाई, मैंने जल-पान को पूछा ही नहीं। ठहरो, कुछ जल पान मँगता हूँ।'

युवक ने कहा, 'नहीं—नही,' और वह कुछ अस्थिर हो गया। मैंने उनका संकोच देखकर हठ नहीं की। कहा, 'देखो भाई, हम अपने-आप में पूरे नहीं हैं। ऐसा होता तो किसी चीज़ की ज़रूरत न होती।

के रास्ते मे ज़रूरतें नही होती हैं। पूरे हो जाने का लक्षण ही कि हम कहे यह जरूरत नहीं रह गई। कोई वस्तु उपयोगी है, अर्थ यही है कि हमारे भीतर उसकी उपयोगिता के लिए जगह है। सब-कुछ हमे चाहिए, इसका मतलब यह है कि अपने भीतर मलकुल खाली है। सब कुछ हमारा हो,—इस हविस की जड मे यह है कि हम अपने नहीं हैं। सब पर हम कब्जा करना चाहते आशय है कि हम पर हमारा ही काबू नहीं है, हम पदार्थों के है। क्यो भाई, आप गुलाम होना पसन्द करते हो ?'

युवक का चेहरा तमतमा आया। उन्होंने कहा, 'गुलाम ! मैं सब मालिक हूँ। मैं पुरुष हूँ। पुरुष की कौन बराबरी कर सकता है ? प्राणी और सब पदार्थ उसके चाकर हैं। वह अधिष्ठाता है, वह है। मैं गुलाम ? मैं पुरुष हूँ,—मै गुलाम !......

आवेश मे आकर युवक खड़े हो गए। देखा कि इस बार उनको कठिन हो जायगा। बढ़कर मैंने उनके कन्धे पर हाथ रखा और के अधिकार से कहा, 'जो दूसरे को पकडता है, वह खुद पकडा है। जो दूसरे को बाँधता है वह खुद को बाँधता है। जो दूसरे खोलता है वह खुद भी खुलता है। अपने प्रयोजन के घेरे मे किसी को या प्राणी को घेरना खुद अपने चारो ओर घेरा डाल लेना इस प्रकार स्वामी बनना दूसरे अर्थों में दास बनना है। इसलिए, कहता हूँ कि कुछ हमारे लिए नहीं है। इस तरह सबको आजाद अपनाने से हम सच्चे अर्थों मे उन्हें 'अपना' बना सकते हैं। मे हम क्षुद्र बनते हैं, विरक्त होकर हम ही विस्तृत हो जाते हाथ मे कुण्डी बगल मे सोंटा, चारों दिसि जागीरी मे—भाई, दिशाओं को अपनी जागीर बनाने की राह है तो यह है।—'

अब तक युवक धैर्य-पूर्वक सुनते रहे थे। अब उन्होने मेरा हाथ अपने कन्धे पर से झटक दिया और बोले, "आपकी बुद्धि बहक गई है। मै आपकी प्रशंसा सुनकर आया था। आप कर्तृत्व का उपदेश न देकर

यह मीठी बहक की बातें सुनाते हैं। मै उनमे फँसने वाला नहीं हूँ। प्रकृति से युद्ध की आवश्यकता है। निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। प्रकृति ने मनुष्य को हीन बनाया है। यह मनुष्य का काम है कि उस पर विजय पाये और उसे चेरी बनाकर छोडे। मै कभी यह नहीं सुनूँगा कि मनुष्य प्रारब्ध का दास है।"

मैंने कहा, 'ठीक तो है। लेकिन भाई—'

पर मुझे युवक ने बीच ही में तोड दिया। कहा, 'जी नहीं, मै कुछ नहीं सुन सकता। देश हमारा रसातल को जा रहा है। और उसके लिए आप जैसे लोग ज़िम्मेदार है—'

मै एक अकेला-सा आदमी कैसे इस भारी देश को रसातल जितनी दूर भेजने का श्रेय पा सकता हूँ, यह कुछ मेरी समझ मे नहीं आया। कहना चाहा, 'सुनो तो भाई—'

लेकिन युवक ने कहा, 'जी नही, माफ कीजिए।' यह कहकर वह युवक मुझे वहीं छोड तेज़ चाल से चले गए।

असल मे इतनी बात बढने पर मे पूछना चाहता था कि भाई, तुम्हारी शादी हुई या नहीं? कोई बाल-बच्चा है? कुछ नौकर-चाकरी का ठीक-ठाक है, या कि क्या? गुजारा कैसे चलता है? मैं उनसे कहना चाहता था कि भाई, यह दुनिया अजब जगह है; सो तुम्हें जब ज़रूरत हो और मैं जिस योग्य समझा जाऊँ, उसे कहने में मुझसे हिचकने की आवश्यकता नही है। तुम विद्वान् हो, कुछ करना चाहते हो। मै इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे तुम अपना ही जानो। देखो भाई, संकोच नही करना—पर उन युवक ने यह कहने का मुझे अवसर नही दिया, रोष भाव से मुझे परे हटाकर चलते चले गए।

उन युवक की एक भी बात मुझे नामुनासिब नही मालूम हुई। सब बातें युवकोचित थीं। पर उन बातों को लेकर अधीर होने की आवश्यकता मेरी समझ मे नहीं आई। मुझे जान पड़ता है कि सब-कुछ का स्वामी बनने से पहले खुद अपना मालिक बनने का प्रयत्न वह करें

तो ज़्यादा कार्यकारी हो। युवक की योग्यता असंदिग्ध है, पर दृष्टि उनकी कहीं सदोष भी न हो। उनके ऐनक लगी थी, इससे शायद निगाह निर्दोष पूरी तरह न रही होगी।

पर वह युवक तो मुझे छोड ही गए है। तब यह अनुचित होगा कि मैं उन्हे न छोड़ूँ। इससे आइए, उन युवक के प्रति अपनी मंगल-कामनाओं का देय देकर हम अपनी बातचीत के सूत्र को सँभाले।

प्रश्न यह है कि अपने को समस्त का केन्द्र मानकर क्या हम यथार्थ सत्य को समझ सकते अथवा पा सकते है ?

निस्सन्देह सहज हमारे लिए यही है कि केन्द्र हम अपने को मानें और शेष विश्व को उसी अपेक्षा मे ग्रहण करें। जिस जगह हम खडे हैं, दुनिया उसी स्थल को मध्य-बिन्दु मानकर वृत्ताकार फैली हुई दीख पडती है। जान पडता है, धरती चपटी है, थाली की भाँति गोल है और स्थिर है। सूरज उसके चारों ओर घूमता है। स्थूल आँखों से और स्थूल बुद्धि से यह बात इतनी सहज सत्य मालूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते है जब अपने को विश्व के केन्द्र मानने से हम ऊँचे उठें।—अपने को मानकर भी किसी भाँति अपने को न मानना आरम्भ करे।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है। पर उस धारणा पर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है। मानव अन्य प्राणियो की भाँति कल्पना शून्य प्राणी नही है।—मानव को तो यह जानना ही होगा कि सृष्टि का हेतु हममें निहित नहीं है। हम स्वयं सृष्टि का भाग हैं। हम नहीं थे, पर सृष्टि थी। हम नही रहेंगे, पर सृष्टि रहेगी।

सृष्टि के साथ और सृष्टि के पदार्थों के साथ हमारा सच्चा सम्बन्ध

क्या है ? क्या हो ?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और 'युटिलिटी' शब्द से जिस सम्बन्ध का बोध होता है वह सच्चा नही है। वह काम-चलाऊ भर है। वह परिमित है, कृत्रिम है और बन्धनकारक है। उससे कोई किसी को पा नही सकता।

सच्चा सम्बन्ध प्रेम का, भ्रातृत्व का और आनन्द का है। इसी सम्बन्ध मे पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है; न यहाँ किसी को किसी की अपेक्षा है, न उपेक्षा है। यह प्रसन्न, उदात्त, समभाव का सम्बन्ध है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, हवा जीने के लिए,—आदि कथन शिथिल दृष्टिकोण का है। अतः यह कथन पक्ष-सत्य ही है।

ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है, और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र जब तक इस 'युटिलिटी' (=उपयोगिता) की धारणा पर खड़े हैं तब तक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नही गई। वे शास्त्र अभी सामयिक है और शाश्वत का उनको आधार नही है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, यह कहना पानी की अपनी सचाई को बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जब तक मुझे प्यास न हो तब तक पानी निरर्थक है। अपनी प्यास के द्वारा ही यदि हम पानी को ग्रहण करते है तो हम पानी को नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते है।

पानी की यथार्थता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझाने की लालसा और ग़रज़ की आँखों से पानी को न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानी के साथ स्थापित करें।

जिसने पानी के सम्बन्ध में किसी नवीन सचाई का आविष्कार किया, जिसने उस पानी को अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानी के साथ उसका सम्बन्ध अधिक

ात्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानी का ठेकेदार न होगा। ाह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्ति ने जाना और बताया कि पानी H_2O (=दो भाग ाइड्रोजन, एक भाग आक्सीजन) है उसने हमसे ज़्यादा पानी की उस सचाई को प्राप्त किया है ! यह कहकर और यहीं रुककर कि पानी ामारे पीने के लिए बना है, हम उसकी भीतरी सचाई को (उसकी आत्मा को) पाने से अपने को वंचित ही करते है।

स्पष्ट है कि पानी को H_2O रूप में देखने और दिखाने वाला व्यक्ति पीने के वक्त उस पानी को पीता भी होगा। पर कहने का मतलब यह है कि उस पदार्थ के साथ उस आविष्कर्ता का सम्बन्ध मात्र प्रयोजन का नहीं था, कुछ ऊँचे स्तर पर था।

प्रयोजन का माप हमारा अपना है। हम सीमित हैं, बहुत सीमित हैं, परन्तु विश्व वैसा और उतना सीमित नहीं है। इसलिए, विश्व को अपने प्रयोजनो के माप से मापना आसमान को अपने हाथ की बिलाँद से नापने-जैसा है।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या ? नापने का माप हमारे पास अपनी बिलाँद ही है। तिस पर नापने की तबियत से भी हमारा छुट-कारा नहीं है। नाप-जोख किये बिना हमारे मन को चैन नहीं। नाप-नापकर ही हम बढेंगे। एकाएक मापहीन अकूल अनन्त मे पहुँच-भी जायँ तो वहाँ टिकेंगे कैसे ?

बेशक यह ठीक है। नाप-नापकर बढ़ना ही एक उपाय है। हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुँए से खीच लें और अपना काम चलावें। ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आसमान बिलाँद जितना है, न कुँए का पानी लोटा-भर है।—बिलाँद मे आसमान को न पकडें न लोटे में कुएँ को समेटें !

प्रयोजन होना गलत नही है। दुनिया मे प्रयोजन नही रक्खेंगे तो शायद हमे रोटी मिलने की नौबत न आयगी। पर प्रयोजन के हाथों

सचाई हाथ आने वाली नहीं है, यह बात पक्के तौर पर जान लेनी चाहिए।

जो कुछ है उसकी गर्दन पर अपने प्रयोजन का जूआ जा चढ़ाने से हमारी उन्नति की गाडी नहीं खिंचेगी। जीवन ऐसे समृद्ध न होगा।

साहित्य को, कला को, धर्म को, ईश्वर को,—सब-कुछ को प्रयोजन मे जानने की चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन हैं पर आशय यह कि उन सत्यों की सचाई प्रयोजनातीत है।

लोक-कर्म मे इस तथ्य को ओझल करके चलने से हम खतरे मे पड सकते है। पर मनुष्य का धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खता की क्षमता भी परिमित है।

हमारे समाज में साठ वर्ष से ऊपर के वृद्धो की उपयोगिता कितनी है? अगर वह तौल मे इतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उनके पालन में व्यय हो जाता है, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन आराम के साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय? समाज-व्यवस्था का हिसाब-किताब शायद दिखावे, कि इस भाँति इन्तज़ाम मे सुविधा और सफ़ाई होगी पर यह नहीं किया जा सका और न किया जा सकता है। यदि अब तक कहीं यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिता शास्त्र फिर अपनी उपयोगिता मे किसी महत्त्व का प्रार्थी है।

एक बार एक आमिष-भोजन के प्रचारक ने निरुत्तर कर देने वाली बात सुनाई। उन्होंने कहा कि अगर बकरे खाए न जायँ तो बताइये उनका क्या किया जाय? कोई उपयोग तो उनका है नहीं। तिस पर वे इतने बहुतायत से पैदा होते और इतने बहुतायत से बढते हैं कि अगर उन्हे बढ़ने दिया जाय तो वे आदमी की जिन्दगी को असम्भव बना दें। फिर बढ़कर या तो वे भूखे मरें, जो कि निर्दयता होगी, नहीं तो वे दुनिया की खाद्य-सामग्री को खुद खा-खाकर पूरा कर देंगे और फूलते जायँगे। ऐसे दुनिया का काम कैसे चल सकता है? इसलिए मांस

खाना लाज़िम है।

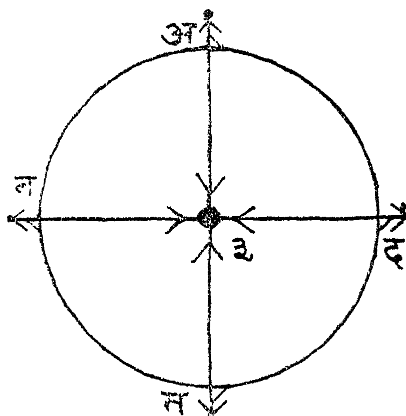
यह लाज़िम होने की बात वह जानें। लेकिन मानव-प्राणियो के प्रति दयार्द्र होकर बकरो को खा जाना होगा, यह बात मेरी समझ मे नहीं आई। पर उनकी दलील का उत्तर क्या होगा? उत्तर न भी बने, पर यह निश्चित है कि वह दलील सही नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम अशुद्ध है। मानव-तर्क अपूर्ण है और मैं कभी नहीं समझता कि उस तल के तर्कों के आधार पर आमिष अथवा निरामिष भोजन का प्रचार-प्रतिपादन हो सकता है।

'अहं' को केन्द्र और औचित्य-प्रदाता मानकर चलने मे बडी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरे मे भी किसी प्रकार का अपना 'अहं' हो सकता है। हम अपनी इच्छाओं का दूसरे पर आरोप करते हैं और जब इसमे अकृतार्थ होते हैं तो झींकते-झल्लाते हैं। असल मे यह हमारा एक तरह का बचपन ही है। हमारा मन रखने के लिए तमाम सृष्टि की रचना नही हुई और हम अपना मन सब जगह अटकाते हैं!—ऐसे दुःख न उपजे तो क्या हो?

छुटपन की बात है। तब हमने पाठशाला मे सीखा ही था कि धरती नारंगी के माफ़िक गोल है। सोचा करते थे कि इस तरह तो अमरीका हमारे पैरों के नीचे है और हमको बडा अचरज होता था कि अमरीका के लोग उल्टे कैसे चलते होंगे? वे गिर क्यो नहीं पडते। क्योंकि वे धरती पर पैरो के बल खड़े थोडे ही हो सकते है, वे तो मानो धरती से नीचे की ओर उधर लटके हुए हैं। उस समय हम अपने को बडा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारत-भूमि मे पैदा हुए, अमरीका में पैदा नही हुए, नही तो उल्टे लटके रहना पडता।

आज भी जाने-अनजाने हम मे से बहुतो का वही हाल है। जिन धारणाओं को पकड़ कर हम खडे हैं, हमे जान पडता है कि सच्ची सचाई वही है, शेष सबके हाथो बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है। पर जैसे कि ऊपर उदाहरण मे ऊँच-नीच की हमारी भ्रान्त कल्पना ही

हमारी परेशानो का कारण थी वैसे ही अन्य हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोध का कारण होती हैं ।



ऊपर के चित्र मे ३ को पृथ्वी का केन्द्र मानिए। अ, ब, स और द उस पृथ्वी पर चार अलग बिन्दुओ पर खडे हुए चार व्यक्ति हैं। क्या वे अपनी-अपनी जगह पर किसी तरह भी ऊँचे-नीचे या कम-अधिक है? असल मे उनका अपनी ऊँच-नीच की धारणा के हिसाब से दूसरो को नापना बिलकुल ग़लत होगा। जिस धरती पर वे खड़े हैं उसका केन्द्र (अन्तरात्मा) ३ है। उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अन्ततः अपनी सिद्धि के लिए उस ३ बिन्दु की अपेक्षा रखती हैं। वह ३ बिन्दु सबसे समान दूरी पर है। वह सब को एकसा प्राप्य अथवा अप्राप्य है। सब प्रकार का भेद उस केन्द्र-बिन्दु ३ में जाकर लय हो जाता है। वहाँ से आगे कोई दिशा नहीं जाती। सब दिशाएँ वहाँ से चलती हैं और वहीं समाप्त होती हैं अ ३ स अपने-आप में कोई रेखा नहीं है। कोई दिशा या कोई ऐसी रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरे पर वह (जीवन का) केन्द्र-बिन्दु विराजमान् न हो। इसलिए

अ ३ स चाहे एक सीधी रेखा दीख पडती हो, पर वह भ्रान्ति है,—वैसा है नहीं। वृत्त की परिधि पर के सब बिन्दु माध्याकर्षण द्वारा ३ के प्रति आकृष्ट हैं। उस आकर्षण के ऐक्य के कारण ही पृथ्वी थमी हुई है। ३ सबका स्रोत-बिन्दु है, समस्त का अन्तरात्मा है। वहाँ जाकर किसी की भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार अ और स इन दो बिन्दुओ से प्रतिकूल दिशाओं में चलने वाली दोनो रेखाएँ ३ मे ही गिरती हैं। और वे दोनों असल में प्रतिकूल भी नही हैं, दोनों अनुकूल है, क्योकि दोनों अपने केन्द्र की ओर चल रही है।

चित्र से प्रकट है कि किस प्रकार अ, ब, स, और द अपने-अपने विशिष्ट बिन्दुओ (अहं) को केन्द्र मान ले तो उन व्यक्तियों का जीवन भ्रान्त ही हो जायगा और उस जीवन को कोई दिशा न प्राप्त होगी।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्र में पड़कर विफल हो जाते हैं। अपने घर के घडे के पानी में जो हम आसमान का अक्स देखते है उसी को आसमान और उतने ही को आसमान का परिणाम मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आसमान के प्रतिबिम्ब से बहुत लाभ उठा सकते है। पर अक्सर इतनी समझ हमे नहीं होती और हम अपना अलाभ अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमारे घर के घडे मे प्रतिबिम्बित होना आसमान की सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ता का हेतु यह नहीं है। अपने मे बिम्ब धारण करना तो उस घड़े के पानी का गुण-विशेष है। उतना ही आकाश का धर्म और अर्थ मान बैठना उस महारहस्य-मय आकाश से प्राप्त हो सकने वाले अगाध आनन्द से अपने को वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दो में, वह मानव की महान् मूर्खता है।

पर इस अनन्त शून्याकाश को मै बाँधकर रक्खूँ, तो कहाँ? देखूँ, तो कैसे?—आँखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़े के भीतर के उस प्रतिबिम्ब में मै बिना कम्पन के झाँक

तो सकता हूँ। यह नील धवल महाशून्याकाश, नहीं तो, मुझसे देखा नही जाता, जाना नहीं जाता। कैसे मानूँ कि मै बहुत अकेला हूँ, बहुत छोटा हूँ। वह असीम है, वारापार उसका कहाँ है? और मै उसे देखूँ क्यों नहीं? इसलिए मै उसे अपने घट के शान्त पानी मे ही उतारकर देखूँगा।

मै जरूर वही करूँ। वही एक गति है और वही उपयोगिता की उपयोगिता है।

इससे आगे उपयोगिता को दौडाना अपनी सवारी के टट्टू को हवा मे भगाना है। ऐसे, टट्टू मुँह के बल गिरेगा और सवार की भी खैर नहीं है।

दिल्ली-नगर मे बच्चों के लिए दूध की ज़रूरत है और सावन में ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते है! आकाश सूना खडा है, क्यो नहीं गुच्छे-के-गुच्छे अंगूर टपका देता है। हमे जरूरत अंगूरों की है और आकाश निरुपयोगी भाव से बेहयाई के साथ कोरा-का-कोरा खडा है। ये बादल और आसमान दोनों निकम्मे है। उनसे कोई वास्ता मत रक्खो। जो उनसे सरोकार रखते है उनका बायकाट कर दो। ये तारे, रात मे चमकने वाली यह दूधिया आकाश-गंगा, वह बर्फीली चोटियाँ, वह मचलती हवा, वह प्रातः सायं क्षितिज से लग कर बिखर रहने वाले रंग-बिरंगे रंग,—ये सब वृथा हैं। हमको पैसे की सख्त ज़रूरत है, रोटी की बेहद भूख है। और इन सब चीज़ो से न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है। वे अनुपयोगी है। मत देखो उनकी तरफ़। इन्कार कर दो उन्हे। उनसे समाज का क्या लाभ? और हम हिसाब-बही में लाभ चाहते है, लाभ!

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी बौखलाहट है। वह उपयोगिता की भयंकर अनुपयोगिता है।

धर्म

जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह देखता हूँ है 'धर्म'। यह तो मेरे लिए घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मै क्या जानता हूँ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं। वह तो करने की है। यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नहीं तो ज्ञान भी नही। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नही। भीड-भाड से भी उसका वास्ता नहीं है। धर्म की साधना एकान्त मे और मौन द्वारा होती है। बोलने से तो वाद बनते है। वाद से विवाद खडे होते है। अनेकानेक तो आज वाद हैं। उन वादो मे आज-कल खीचतान और अनबन है। तू-तडाक और मारपीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल मे अक्सर बढती ही हुआ करती है। तब उस बोलने मे धर्म कहाँ रखा है? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल है।

धर्म अनेकता मे मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमें समन्वय लाता है और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शंका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाडते है तो धर्म हमें जोडता है।

फिर भी भाग्य का व्यंग्य समझिए कि उस धर्म के बारे मे मुझे बोलना होगा। हाँ, बोलने की भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह

फलप्रद हो। उससे सद्-कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो। तब तो बोलना धर्म है नही तो अधर्म। कवि का वचन है, 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी।' उसी तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मै हूँ कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखण्ड हो जाती है। वह बन्धन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्यूषण-व्याख्यान-माला के आयोजन को सिद्ध तो तभी कहा जायगा, जब उससे कर्तव्य-मार्ग में स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नही तो कहे हुए शब्द बुद्धि मे चंचलता लाते हैं। बुद्धि छिड जाने पर यदि आदमी ठीक काम मे न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पडता। इससे फिर हानि होती है। मै यह देखता हूँ कि जहाँ हज़ार-पाँच सौ का जमाव रहता है, वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-बुरा कह कर वही पल्ला झाड चलते है। यह धर्म थोडे ही है।

इससे पर्यूषण-पर्व की यह व्याख्यान-माला हवा में नहीं उड जानी चाहिए। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम मे एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा मे, लगाने को चल पडा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिए। मै भी तो बात कहता हूँ, मै कौन काम करता हूँ। पर सच्चा आदमी मुँह से कम कहता है। उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्म-निष्ठ का तो [illegible]र ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा और आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, आग का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर भी जा

सकता है ? जो-जो करता है, अपने स्वभावानुकूल । चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिए, क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही है। पानी ठण्डा हो और और आग गरम, इसके सिवा भला और हो क्या सकता है ? तब अधर्म की आशंका कहाँ ?

हाँ, वह ठीक, लेकिन आदमी की बात अजब है। आदमी मे कई तहें हैं। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ और चाहता है। इस तरह आदमी में अन्तर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं है। वह स्वस्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है उसका 'स्व' क्या और 'स्वास्थ्य' क्या ?

विचार करने चलते हैं तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है। उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड नहीं, चेतन है। इससे जितना आदमी का व्यवहार जड शरीर की वासनाओं से बंधा नही, बल्कि चैतन्य आत्मरूप होगा, उतना ही वह स्वस्थ है, यानी धर्म-युक्त है।

तो क्या शरीर को काट-काट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आयेगी ? शकावान ऐसी शंका कर सकते हैं। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि में बाधा है तो उसे सुखा-जला कर नाश किया जाय। यही न ?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नही है। सिद्धि का वह मार्ग नही है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव है ? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अत: जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु मे आत्म-धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह

उसमे न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना में साधक होता है और इस तरह स्वयं एक तीर्थ और एक मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े की तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहेगे तो वहाँ शरीर तक नही रहता। आत्मा ही अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप मे विराजती है।

अच्छा, तात्विक तो यह बात हो गई। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वयं उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्म-तेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार मे कठिनाई दीखती है। ठीक ही है। चलेंगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करें तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पडे तो क्या अचरज? सो धरती पर कदम बढाते हैं कि उलझन दीखती है। यहाँ केवल रूप मे धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन-धर्म, सनातन-धर्म, ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, और इस्लाम-धर्म। कोई धर्म अपने को गलत नहीं मानता। और बेशक कोई गलत हो भी क्यो? पर हर धर्म मे कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते हैं कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू हो जाते है। तब धर्म का जिज्ञासा मे अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बडी दुविधा होती है। अनेक उपदेष्टा मिलते है, जो कहते है कि हमारे डेरे मे आ जाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते हैं कि हमारा साहित्य पढ़ो। तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म मे तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय? धर्म-तत्त्व किसी शकल के पात्र मे हो, अगर वह है तो. पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय है, धर्म-पूर्वक वे सब सच

बनते हैं। धर्म-हीन होकर वे सब मिथ्या बन जाते हैं। जैसे जब तक आत्मा है तब तक अमुक नामधारी व्यक्ति की देह आदरणीय है। आत्मा निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहेगी। तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पा ली जाय, उतना ही अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामो के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये हैं, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहराते है।

पर देखने मे आता है कि कहीं जैन-धर्म को ऐसा कस कर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमे से निचुड़ गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण बिरले नही है। वहाँ जैन-धर्म को धर्म के लिए माना जाता है। इस वृत्ति मे सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदाय मे भी ऐसी बातें मिलती हैं और सच यह है कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी बात कहूँ। मै अपनी माँ का इकलौता बेटा था। चार महीने का था तभी पिता मर गये। माँ ही मुझे सब कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड प्रयाण कर गई। अब आप मेरी हालत जान सकते है, पर कलेजे पर पत्थर रख कर मुझे यही करना पडा कि श्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊँ। मेरे लिए यह सुख की बात न थी; पर क्या आप लोगो मे से कोई भी यह सलाह देने को तैयार है कि मुझे माँ की देह से चिपटा ही रहना चाहिए था, छोडना नहीं चाहिए था?

साम्प्रदायिक रूढ़ियो का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय तब तो ठीक, नही तो आग्रह से निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार मे धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषो को भी भ्रान्ति होती देखी जाती है।

शुद्ध धर्म के मोह में उनको उन विशेषणों के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं; क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिए नहीं के जैसा है। इसलिए सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकान्त अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमेले में पड़ सकता है। उधर से पुकार सुनता है तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन में पड़े और तय करने चले कि कौन इनमें कम श्रेष्ठ है और कौन अधिक?

मैं मानता हूँ कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के चक्कर में पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह न मिलेगी और वह शब्द की भूल-भूलैया में भटक रहेगा, क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों में तुलना करने चलना एक अहंकार है और गलत है।

अरे भाई, धर्म वहाँ बाहर खोजे मिलेगा? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झाँको तो वहाँ से एक धीमी लौ का प्रकाश प्राप्त होगा। आत्मा की आवाज़ सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि अजी, कहाँ है वह आत्मा की आवाज़? हम सुनते हैं और कुछ सुनाई नहीं देता। वह भाई भी ग़लत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोड़नी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज कैसे सुनाई दे? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ़ से कान बन्द करने होंगे। तरह-तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे हैं। उन सब की तरफ से बहरे बन जाना होगा। जो बाहर दीख रहा है, उस पर आँख मूँद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता, वह सुनाई देगा और नहीं दीखता, वह दिखाई देगा। बस उसको

गह लीजिये और उसके पीछे जो भी छोड़ना पड़े, छोड़ दीजिए। जहाँ वह ले चले, चले चलिए। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म-पालन कर रहे हैं और धर्म के नाम पर जो जंजाल और दुकानदारी का पसारा फैला है, उससे बच सके है।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँ की आत्मा की बातचीत करते हो? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड़ जायगा? आत्मा तो वह छोड़ नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है? धन की कमाई आदमी के मरने के बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनवाईं। वे पाँच सौ वर्ष तक रही तो तब तक उसकी याद रहेगी; नाती-पोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है?

ठीक तो है। आते हुए हावड़ा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत बड़ा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना? सैकड़ो मन बोझ को गेंद की तरह यहाँ से वहाँ फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आसमान की छाती मे मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती? फिर लड़ाई मे हिटलर के बम याद कीजिये। एक-एक ऐसा कि हज़ारो को तहस-नहस कर दे और क्षण मे भरी बस्ती वीरान कर दे। दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी जितना भी तो नहीं। फिर क्या धर्म? और क्या आत्मा? उस ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे वह निरी ख़ामख़याली ही नही है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित रुद्र सामने है, वह तो है और वह जो निराकार धर्म-तत्त्व की बात है, वह नहीं है। पर एक क्षण को मन सहम भी जाता हो; लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाभी घुमाता हुआ साढ़े-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन

कितना भी बडा हो वह उस नन्हे सचेतन आदमी के हाथ मे जड की भाँति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड को ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहाँ है आज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु? और साम्राज्य और सत्ताएँ? आदमी ने अपने अहंकार में जो-कुछ खडा किया वह सब एक दिन खण्डहर बन रहा। पर बुद्ध और महावीर को हुए हज़ारो वर्ष हो गये और ईसा की आज यह बीसवीं सदी है। काल के इस गहन पटल को भेद कर इन महापुरुषो का सन्देश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वयं अमर हैं। कहाँ है सम्राटो के अतुल वैभव, महल-अटारी कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो? यह सब-कुछ धूल मे मिल गया है। काल ने उसे लथेड़ डाला है। फिर भी उस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ प्रेम का सन्देश सदियो के अन्तराल से आज भी हमे सुन पडता है।

इसलिए धन की कमाई नही रहती, धर्म की ही कमाई रहती है, पर वह कमाई दीखती नहीं। धरती मे का बीज भी कही दीखता है? पर अधीर उसका फल चाहता है। किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नजर नहीं भी आता। अनातोले फ्रांस की एक कहानी है। उसमे दिखाया गया है कि ईसा जब ज़िन्दा थे तब वह एक आवारा उठाईगीर के मानिन्द समझे जाते थे। गरूर मे मस्त अपने को ऊँचा मानने वाले लोग उन्हे हिकारत से देखते थे। लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या! उन्होने तो अपने को प्रेम से भरा रखा। वह फाँसी चढ गये, पर फाँसी चढाने वालो के लिए उनका मन करुणा से भरा रहा। आज फाँसी देने वाले वे अफसर कहाँ है? कौन उनको पूछता है? और ईसा को आज अवतार मानकर करोडों लोग गद्‌गद हो जाते हैं। यह धर्म की महिमा है या किसकी?

धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नहीं, भीतर

की आँख चाहिए, और घास की तरह जल्दी वह उग नहीं आता। इससे धर्म की श्रद्धा कठिन होती है। पर यही उस श्रद्धा की कीमत भी है। तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हे न पूछें, बल्कि उल्टे त्रास दें और हँसी उडावें तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है? उस श्रद्धा को भीतर जगाकर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है।

आज तो उसी श्रद्धा की मांग है। मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जा रही है। भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है। बाकी भ्रम। पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है। इस नास्तिक जीवन-नीति की एक बाढ ही आ गई है और घर-घाट उसमे बहता हुआ दीखता है। ऐसे मे आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया।

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है। पश्चिम यों तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है, पर वह विनाश के आवर्त्त के किनारे भी पहुँच रहा है। उस जीवन-नीति मे जोर दिया जाता है 'अहं' पर। कहते है 'Develop personality' (व्यक्तित्व का विकास करो)। यह उनका मन्त्र है। पर इससे थोडी दूर बढने पर ही स्पर्धा पैदा होती है। इस 'Developed personality' (बढ़े हुए व्यक्तित्व) का ज़ोर अपने ऊपर नहीं, दूसरे के ऊपर खर्च होता है। परिणाम होता है हिंसा और दमन और शोषण। वहाँ वासनाओ को उत्तेजन दिया जाता है, यहां तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है। इस नशे मे समूह-के-समूह संगठित होते है और दूसरो को ललकार देते है। समझा जाता है कि वे बढ रहे है, पर पडोसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढ़ने वाली सभ्यता झूठी है। वह वृत्ति धार्मिक नहीं, अधार्मिक है। धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने। अपने को शून्य और अकिंचन मानते और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है।

सोचता हूँ कि इस दुनिया मे सच्चा करिश्मा क्या है तो मुझे मालूम

होता है कि जहाँ सब अपने-अपने अहंकार मे डूबे है, उस जगत् मे सच्ची विनम्रता ही सबसे बडा करिश्मा है। जो कृतार्थ भाव से अपने को सबका सेवक बनाता है, वही धन्य है।

एक-दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे बढने का रोग विलायत मे है तो हिन्दुस्तान में भी है। हिन्दुस्तान मे वह कम नही है। इस तरह सफलता भी पाई जाती-सी दीखती है, पर वैसी दुनिया की सफलता कोरा झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जयध्वनि करते है। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते है। लेकिन महावीर ने तो राज-पाट छोडा और वन की राह ली। सुख का रास्ता तजा, दुःख का मार्ग पकडा। दूसरो को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उल्टी रीति उन्होने अपनाई। वह रीति खुद दुःख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की, यानी अहिसा की थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित मे दुःख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का यही नही तो दूसरा क्या सार है?

धर्म तत्त्व यह है कि अहंभाव छोडो, सेवा-भावी बनो। परिग्रह या संचय मन मे लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमे ममता परिग्रह है। समाज मे आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नही। ऐसी स्थिति मे अहिसा कहाँ? धर्म कहाँ? कुछ लोगो की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगो मे धन का समान वितरण चाहता है। गाँधीजी अहिसक है, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं हैं। इससे जब गाँधीजी कहते है कि ममता छोडो तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यो रखने वाला है? वह कहेगा कि तुमसे ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ है। मै तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिये कि हमारे आस-पास भूखे लोगो की भूख मँडरा रही हो तो उसके बीच महल के बन्द कमरे में धर्म का पालन नही हो सकता।

धर्म कहता है कि धनिक अपने धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व-भाव नहीं माने।

कोई ज़रूरत नहीं है कि हम चाहे कि धनिक धनिक न रहे, पर धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिए। जिसके पास सोने का जितना अधिक बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड दे तो सोना आपका कुछ न बिगाड सकेगा, न फिर उससे दूसरे का ही अलाभ होगा, और तब फिर वह सोना जगत् का हित करेगा, क्योकि धर्म के काम मे लगेगा।

दूर क्यो जाइए, अपने ही पहले श्रीमन्तो को देखिए न। कोई भला उन्हे देखकर कह सकता था कि ये कोव्याधीश हैं? सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आन-बान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला जाता हो। दिखावा बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे धन है तो यह कौन बड़ाई की बात है? बडाई की बात तो त्याग मे है।

अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है, पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी, यानी सच्चा धार्मिक, अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौड़ी नहीं खर्च करेगा। अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो, मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी जमीन हम चले है, उस पर फिर पीछे फिरकर एक निगाह डाल लेः—

पहली बात यह कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप मे नही मिलती। बाहर खोज पर चलते हैं तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने-आप मे मूल्यवान् नही है। वे तो पात्र की तरह हैं। धर्म का उनमें रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा में है। इन्द्रियो को बस मे

करना है और आत्म-रूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों मे आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात, जिस पर कि काफी ज़ोर भी कम होगा, कि धर्म बोलने, जानने की चीज़ नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म तत्त्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गडा-गडाकर देखो तो क्या नतीजा होगा? उससे आँख ही अन्धी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को बहुत तर्क-वितर्क के जाल डालकर पकडने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमे पडकर बुद्धि विलासिनी और निर्बल हो जाती है। परम तत्त्व को जानकर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देंगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यो? शास्त्रार्थ क्यों? वण्टो उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना पचे, उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले लें। बौद्धिक ज्ञान तो अपने-आप मे कोई सच होता नही है। बारीकी से देखें तो ज्ञान और ज्ञेय की पृथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर पृथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं, अर्थात् जहाँ ज्ञान रहे उतना भी अन्तर उनमे नहीं है। ज्ञानवान् वहाँ घुल रहता है, जैसे नोन की गाँठ पानी में गल रहती है।

यह सुन बुद्धिवादी (रैशनलिस्ट) मुझे सवालों से तोप सकता है, पर सवाल की कहीं शान्ति हुई है? शंका शान्त होगी तो बस श्रद्धा मे। जो अनुभव की बात है, वह बहस की नहीं है, और समझकर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषयों मे हमे नम्र और जिज्ञासु होकर चलना चाहिए।

पांचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमे नहीं करने चाहिएँ, जैसे धन से करते हैं। धन मे हमारी गरज चिपटी रहती है। पर धर्म

सं[illegible] हम नहीं चाह सकते। यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी। धन के मोल जिस तरह चीजें खरीदी जाती है, वैसे धर्म के बदले भी हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहे तो यह ग़लती है। धर्म तो हमें अपनी ही असलियत देता है। इससे बडा और दूसरा लाभ क्या होगा? यह धर्म को लजाना है कि हम उसके ज़रिये ऐश्वर्य बनाना चाहे या अपना प्रभाव बढ़ाना चाहे। यह तो हीरे से कौडी का काम लेने जैसा हो जायगा। महातत्त्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचें? यह तो वैसे ही हुआ, जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हाँडी पकाना चाहे। ऐसे हाँडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे। इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध मे हम सावधान रहे। उससे लौकिक प्रयोजन साधने की इच्छा हम तज दे। ऐसी इच्छा तो हमारी कंगाली का सबूत है और अज्ञान का भी।

कवि ने कहा, 'कौडी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया?' धर्म वह लाल रतन ही है। पर मुट्ठी कौड़ी पर ही बँधी है तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा? इसलिए लाल रतन लेने के लिए कौड़ी पर से मुट्ठी छोड देनी होगी। आप लोगो मे बडी-बड़ी सम्पत्तियो के स्वामी होंगे। धर्म पाना चाहते है तो उस पर से आपको मुट्ठी छोड देनी होगी। मुट्ठी छोडने से वस्तु थोडे छूटती है। यह तो भ्रम ही है। पर दोनो हाथ लड्डू का भरोसा मै आपको देने वाला नहीं हूँ। या तो अहं-गर्व रखिये, या धर्म रखिये। धर्म रखकर आप अपने लिए नही रह जाते, सब के लिए हो जाते है। उसके लिए अन्दर की वासनाओ को, स्वार्थ-ईर्ष्या को, मताग्रहो को, गिरोहबन्दी को सब को छोड देना होगा। लेकिन छोडने से आप घाटे मे न रहेगे, क्योंकि छोडकर वह वस्तु आपको मिलेगी, जिसकी कीमत अकूत है। वह है आपकी 'आत्मा' अपने को खोकर सारे जगत् का राज पाया तो क्या पाया? क्योंकि तब वह धूल बराबर भी नहीं है।[1]

१. भाषण, पर्यूषण, व्याख्यानमाला, कलकत्ता।

युद्ध

जीवनकर्म क्या है ? सोचता हूँ तो एक ही उत्तर मिलता है : युद्ध, जीवन युद्ध है।

युद्ध से घबराना जीवन से बचना है। वे शान्तिवादी जो युद्ध से किनारा रखने की सीख देते है और युद्ध से ही युद्ध करने आगे नहीं आते, वे शान्ति के वादी ही है, उसका मूल्य चुकाना नहीं चाहते। शान्ति के वे तत्पर आचरणी नहीं हैं, उसके सिपाही नहीं है। अर्थात्, वे शान्ति ला नहीं सकते। वे अशान्ति से डरते है और उससे लड नहीं सकते। शान्ति न-कार नहीं है। जो अशान्ति को चुनौती नहीं दे सकती, वह कैसी शान्ति ? शान्ति दास नही योद्धा चाहती है। और वह शान्ति का चोर है जो युद्ध से आँख चुराता है। घर में अपने को बन्द कर कोई शान्ति-सेवी नहीं हो सकता। बाहर द्वेष की आग है, इसलिए अपने ऊपर किवाड बन्द कर जो भीतर विरागी बन बैठता है, वह विरागी नही है, कायर है। इसी तरह जो चारों तरफ जलती हुई कलह की आग से, शान्ति की ओट और शान्ति के सपने ओढ कर, और उनमे बन्द होकर अपने को बचाता है, वह अपने को धोखा देता है। शान्ति अपने सेवक से बात नहीं, काम चाहती है। वह उत्सर्ग चाहती है। जो आराम नही तज सकता, एडीटरी और लेखकी की सुरक्षित आलोचना छोड कर घमासान मे नही आ सकता, वह शान्ति को भी कैसा चाहता है ? वह

तो अपने तन की ही रक्षा चाहता मालूम होता है। लेकिन शान्ति उसी को पहचानेगी जो अशान्ति की ललकार लेगा, उससे मोरचा लेगा। जो योद्धा नहीं, वह सेवक नहीं। वह प्रेम का अधिकारी भी नही। प्रेम का रास्ता खतरे का रास्ता है। प्रेमी योद्धा तो है ही। उस योद्धा से सब-कुछ माँग लिया जायगा और बदले मे आश्वासन भी उसे नहीं दिया जायगा। उसका सहारा होगा बस प्रेम। इधर-उधर और कुछ नहीं। उतने ही को सँजोए रखकर बिना किसी प्रत्याशा के वह अपना तन-मन दे सके तो ठीक है। ऐसा नहीं तो वह प्रेमी नही। और शान्ति भी अपने प्रेमी से यह सब उत्सर्ग माँग लेगी। जो अशान्ति से लड़ने में अपनी जान तक खोने को तैयार नही है, वह शान्ति के समर्थकों में नहीं गिना जायगा।

इससे जीवन को जो आराम मानते हैं, वे जीवन को नहीं जानते। वे जीवन का स्वाद नहीं पाएँगे। जीवन युद्ध है, आराम नहीं। और अगर आराम है तो वह उसी को प्राप्य है जो उस युद्ध मे पीछे कुछ न छोड़ अपने पूरे अस्तित्व से उसमे जूझ पड़ता है। जो सपने लेते हैं वे सपने लेते रहेंगे। वे आराम नहीं आराम के ख्याल मे ही भरमाए रहते हैं। पर जो सदानन्द है, वह क्या सपने से मिलता है? आदमी सोकर सपने लेता है। पर जो जागेगा वही पाएगा। सोने का पाना झूठा पाना है। सपना सपने से बाहर खो जाता है। असल उपलब्धि वहाँ नही। इससे मिलेगा वही जो कीमत देकर लिया जायगा। जो आनन्द रूप है, वह जानने से जान लिया नहीं जायगा। उसे तो दुःख-पर-दुःख उठा कर उपलब्ध करना होगा। इसलिए लिखने-पढने और मनन करने से उसकी स्तुति-अर्चना ही की जा सकती है, उपलब्धि नहीं की जा सकती। उपलब्धि तो उसे होगी जो जीवन के प्रत्येक क्षण योद्धा है, जो अपने को बचाता नहीं है, और बस अपने इष्ट को ही जानता है; कहो कि जो उसके लिए अपने को भी नहीं रखता है।

पर कैसा योद्धा? हाथ में कटार ली और चार-छः के गले काट

दिए, ऐसे आदमी भी योद्धा कहलाते हैं। इतिहास अधिकतर ऐसों को ही जानता है। शूरता और वीरता के नाम पर एकाएक वैसी ही तस्वीर सामने उठती है। और आज तो वह भी नहीं। आज तो बिना देखे और दीखे गोले बरसाए जाते है और तोप-बन्दूक चलाई जा सकती हैं। आधुनिक वीरता कुछ ऐसी ही चीज है। लेकिन इस वीरता मे भय भी मिला हुआ नहीं है, यह मै नहीं कह सकूँगा। दुश्मन का डर अन्दर-ही-अन्दर मन को दबोचे रहता है। और उस अन्दरूनी भय का सामना करने के लिए एक बना हुआ साहस, जिसमें नशा रहता है, हठात् पैदा कर लिया जाता है। वह नशा तलवार चलवाता है, और गोले फिकवाता है। ऐसा व्यक्ति खुद आतंकित होता है और आतंक उपजाने को ही जीत जानता है। वैसे अमानुषीय साहस को ऊपर से देखने वाले शूरता और वीरता कह देते है। दुबक रहने वाले कायर के मुकाबले तो वे भी वीर है ही। पर क्या शब्द के पूरे अर्थ में उन्हे योद्धा कहा जा सकता है? नशा उतर जाने पर क्या वह दयनीय ही नही दीख आएँगे? ऐसी लडाई लडने वाले नित्य के जीवन मे बात-बात पर अपमानित होते और आत्मा बेचते हैं। बारह-पन्द्रह रुपए का सिपाही जो लडाई मे अजब विक्रम दिखाता है, लडाई के अभाव में क्या वह काहिल झगडालू, डरपोक और पालतू ही नही दीखता? क्या उसका पराक्रम सच्चा होता है? क्या उसके मूल मे एक नशा ही नही होता?

जो मारता है उसको कोई योद्धा कहे, तो मैं उसे बहस का मौका न दूँगा। हरेक को हक है कि जहाँ से उसे स्फूर्ति मिले वहाँ से ले। जिसमें चाहे, उसी में श्रद्धा रखे। बहस इसमें बेकार है। लेकिन अगर विवेक भी कोई चीज़ है तो मै कहना चाहता हूँ कि जो बिना मारे युद्ध में डटा रहता है जो अपने को दुश्मन मानने वाले को मित्र मानता है और उसकी दुश्मनी को अपनी अखंड मैत्री से झेलता है, वह प्रवीणतर योद्धा है। प्रवीणतर, और अधिक साहसी, और अधिक विवेकी और अधिक बलवान।

लेकिन करना कहने सा सीधा नही है। जो हमारे खून का प्यासा है उसमें से खून की प्यास निकल जाय और उसमे स्नेह की प्यास पैदा हो आए, यह काम खेल नही है। यह दुस्तर-से-दुस्तर है और इसके लिए अविराम और दुर्धर्ष युद्ध की योग्यता वाले योद्धा की ज़रूरत है। इतिहास के युग-युग और देश-देश मे बहुतेरे लोग स्पर्द्धापूर्वक बढ़कर इस मोरचे को लेने पहुँचे; लेकिन बिरले वहाँ ठहर सके। असंख्य बीच मे टूट गये और दुश्मन के हाथो खेत रहे। इस युद्ध मे दुश्मन की उसी क्षण विजय हो जाती है जिस क्षण कि योद्धा मे दुश्मनी का खयाल भी आ जाता है। मै मानता हूँ कि जिसने यह युद्ध जीता, उसे फिर जीतने को कुछ भी बाक़ी नही रह गया। और जीवन मे कर्म शेष है तो इसी-लिए कि इस युद्ध मे अभी विजय पाना हमारे लिए शेष है। इसके अतिरिक्त और कुछ करना-धरना नहीं रह जाता।

लेकिन शब्दो को लेकर हम भाग न छूटे और न उडे। न समझ लिया जाय कि व्यक्ति अन्तिम सत्ता है और उसकी अपने मे अलग कोई मुक्ति हो सकती है। मरता आदमी अपने से है, जीता साथ-साथ है। मौत को छोड कहीं वह अकेला नही है। सो मुक्ति अगर है तो सबकी साथ है। इसमे ऊपर व्यक्तिगत आदर्श की स्थापना नही की गई है। व्यक्तिगत भाषा का प्रयोग हाँ अवश्य है। व्यक्ति इकाई है और जो चेतना मानवतल पर हमे प्राप्त है, उसमे इस इकाई के आधार से छुट्टी तो पूरी तरह है ही नही, इस मर्यादा को किसी वाद मे कृपया हम न भूलें।

युद्ध की परिभाषा मे ही जीवन का देखना क्यो जरूरी है, उसका कारण है।

उस कारण को तात्त्विक रूप मे तो यो कहिए कि दो-एक तब तक तक नही हो सकते, जब तक वे अपने दो-पन को, यानी अपने ही भीतर के और आपस के द्वित्व को जीत नही लेते। हरेक को अपना अपनापन ही सिद्ध है। लेकिन वह अपनापन हरेक की मर्यादा भी है। गति का

अर्थ विस्तार है। विस्तार मे अपनी ही मर्यादाओ के प्रति असन्तोष और युद्ध गर्भित है। जहाँ ऐसा असन्तोष और युद्ध नही, वहाँ जीवन भी फिर नहीं है। वहाँ प्रगति, उन्नति, विस्तार, सबके द्वार बन्द है। जीवन का लक्षण है विस्तृति की निरन्तर चेष्टा, निरन्तर गति। गति की सम्भावना मे विरोध और युद्ध आ ही जाता है।

इसी तात्त्विक बात को व्यवहार के तल पर प्रत्यक्ष बनाकर हम समझ सकते है। जिसके पास निषेध के लिए कोई आधार नही रह गया है, सब ग़लत मानो उसके लिए सही भी है और सब सही गलत; जिसमें पृथक्करण की विवेक शक्ति नही रह गई है, जो समन्वय मे अन्वय की शक्ति खो बैठा है, जो किसी का वर्जन और किसी (बात) का साग्रह स्वीकार नही कर सकता, ऐसा व्यक्ति एकदम निष्क्रिय और जडवत् रहता है। वह सूखकर बेकाम हो जाता है।

और 'धर्म' मे इस तरह का खतरा खूब है। धर्म की आधार रूप है वह चेतना जो खण्ड मे अखण्ड के लिए बीजभूत है। इससे धर्म का मूल है बिछोह का त्रास और ऐक्य की प्यास। जीवन एक है। जो अखिल है वह ईश्वर। वही है और मै वह हूँ : 'सोऽहं'—धर्म का मूल इस अनुभूति को आत्मसात् करने की अमर प्यास है।

लेकिन इस अमूल्य अनुभूति के साथ खेल नही हो पायगा। इस बारे मे अतिशय ईमानदारी भी कम हो सकती है। ज़रा मोह इस जगह आदमी को नरक मे डाल देगा, स्फूर्ति की जगह उसमें जडता ला देगा। यह अनुभूति-सुलभ होती तो बात ही क्या थी। इसलिए इन (और ऐसे) शब्दों के साथ अत्यन्त सतर्क और सावधान होकर बरतना चाहिए, यहाँ शब्द शब्द नही रहते, आग हो जाते है। वे जला दे सकते है। और जिसके लिए वे शब्द शब्द ही रह रहे हैं, फिर भी जो उनका व्यवहार करता है, वह कोरा व्यापार रचता है—वह पाखण्डी है। उन शब्दो के साथ अत्यन्त विनम्र रहना होगा। 'सोऽहं' पद मान भर लेने के लिए नही है। वह तो साधना का इष्ट है। उसमे तो आशय है कि

मुझे वह (यानी, उसके जैसा और निकट) प्रतिक्षण होते रहना चाहिए। अगर 'सोऽहं' भाव मेरे ऊपर सवार हो जाता है, साधना का मन्त्र नही बल्कि एक व्यामोह बन जाता है, तो उससे ज़बरदस्त अनर्थ होकर ही रहता है। ऐसे व्यक्ति मे गति बन्द हो जाती है और जीवन मूर्च्छित हो जाता है। और मूढजन उसके उदाहरण से और भी मतिमूढ बनते हैं।

ईश्वर और सत्य की खोज में निकल पडे हुए अनगिन व्यक्तियों के साथ, अथवा उनके उपलक्ष से, ऐसी ही दुर्घटना घटित हुई है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को आत्मा के भीतर क्रमशः उत्तरोत्तर उपलब्ध न करके उन्होने हठात् सब को एकाकार देखने के आग्रह में कर्म-अकर्म के अन्तर को ही अपनी विवेक-शक्ति मे से लुप्त कर लिया है। ऐसे लोग कठोर तपसी हो गये हैं। जग उन पर विस्मित होता हो, लेकिन असल में तो ऐसे विमूढता ही हाथ लगती है। ऐसे लोगो ने उस राह स्वयं चैतन्य का लाभ कर पाया, अथवा चैतन्य प्रदान किया, इसमें मुझे भारी सन्देह है।

उन्होंने जीवन-सम्बन्धी अपनी धारणाओं मे युद्ध-तत्त्व के लिए अवकाश नही छोडा। उन्होंने हठात् चाहा कि वे ऐक्य प्राप्त करें; लेकिन अनैक्य को, जो उनके भीतर था, उन्होने ललकार नहीं दी। उससे युद्ध नहीं किया; बल्कि उसे पुष्ट किया। सूफ़ी और वेदान्ती कवि लोग ऐक्य के ऐसे स्वप्न में खो गये कि उस स्वप्न को तत्पर आचरण द्वारा सत्य करने की आवश्यकता की सुधि उन्हें न रही। परिणामतः उनका जीवन, निर्दोष तो वह रहा भी होगा, पर वेगवान् और सशक्त नहीं हुआ। पराक्रम उनमे नहीं दीखा। समाज ने कोई स्फूर्ति और प्रेरणा उनसे नहीं पाई। उनकी जीवन-नीति मे युद्ध-तत्त्व की कमी रह गई।

बुराई है, अनीति है—उसको अस्वीकार करने के लिए ही हम हो सकते हैं। अस्वीकार करना, यानी जिसको बुराई और अनीति माना है उसके आगे कभी न झुकना, यह हमारी स्थिति का आधार है। अगर हमारे लिए बुराई कुछ नहीं रह गई है और बुरा कुछ नहीं रह गया है,

तो हमारे होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह अवस्था तो व्यक्ति की नहीं आदर्श की है। परमात्मा की यह स्थिति है। उस आदर्श लोक मे तो असत् को भी सत् और पाप को भी धर्म ही थाम रहा है, यह असन्दिग्ध है। पर वह कैसे थाम रहा है? पाप मे धर्म और असत् मे सत् कैसे व्यापा हुआ है?—इसका जवाब पा लेना मानव नही रहना है, ईश्वर बन जाना है। इस प्रश्न का हठात् उत्तर देने का उत्साह धृष्टता है और बुद्धि का विकार है। वह भयंकर है। वह प्रश्न सदा के लिए प्रश्न है। जब तक काल है, तब तक वह है। किसी उत्तर से उसका मुँह बन्द नहीं हो सकता। जीभ से उसका उत्तर दे डालना, अथवा बुद्धि द्वारा समाधान पा लिया जैसा अपने को समझ लेना, अनर्थकारी है। मोक्ष मे सच्चा उत्तर और सच्चा समाधान है और मोक्ष से पहले कहीं वह उत्तर भी नही है।

जब तक व्यक्ति है तब तक उसके लिए असत् रूप कुछ-न-कुछ है। इसलिए सत्रूप धर्म व्यक्ति के लिए हमेशा युद्धमय होता है। असत् से युद्ध, पाप से युद्ध, अन्धकार से युद्ध, अनात्म से युद्ध।

युद्ध इसलिए धर्म है कि हम अपूर्ण हैं। और इसलिए धर्म है कि सम्पूर्ण हमे होना है। जो युद्ध से बचा, वह या तो मोहयुक्त है और अपनी अपूर्णताओ से असन्तुष्ट नही है, या इतना जड है कि सम्पूर्णता की अभिलाषा उसमे नहीं है।

इसलिए बडे-से-बड़े के लिए अनन्त काल तक प्रार्थना का अवकाश है और यह आग्रह ख़तरे से भरा है कि मैं वह हूँ, क्योकि वह मै है; और क्योकि वह ईश्वर सब-कुछ है, इसमे मैं सब-कुछ हूँ। इस तरह व्यक्ति युद्धधर्म से च्युत होता है। वह मानव-विलक्षण भले हो जाय, मानवोत्तम नहीं हो सकता।

किन्तु युद्ध धर्म है तो तभी जब वह धर्मयुद्ध हो, अर्थात् वह प्रेम से लडा जाय। जो प्रेम से नहीं लडा जाता, वह युद्ध खरा नहीं है और शाश्वत भी वह नहीं है। उससे थकान चढ़ती है और अवसाद हो आता

है। अप्रेम वाले युद्ध के लिए नशे वाला उत्साह चाहिए। नशा उतर जाने पर उससे अरुचि होने लगती है। वैसे युद्ध मे विवेक नही निभता और उसमें लडने वाले का अन्तःकरण, चाहे नशा कितना ही तीव्र हो, भीतर-ही-भीतर उसे कचोटता रहता है। इसलिए खूनी युद्ध का योद्धा पूरा निर्भय नही हो सकता। वह औरों की जान लेने के बारे मे क्रूर हो सकता है, पर अपनी और अपनो की जान जाते वक्त वह घबराए बिना नहीं रह सकता। अपनी और अपने पुत्र कलत्र की मौत को अडिग भाव से सहने की सामर्थ्य उसमे नही होती। ऐसे वक्त वह हिल ही आता है। ज़रूर कोई मौका आता है जब नशे पर टिकने वाला उसका युद्धोत्साह टूटकर धूल मे मिल जाता है और उस समय वह बेहद दयनीय हो आता है। बडे-बडे शूरवीर समझे जाने वालों की जीवनी मे इस सचाई के प्रमाण मिलते है। मारने की शक्ति मे बढ़ा-चढ़ा हुआ योद्धा, एक जगह आकर सब सुध बुध बिसार रहता है और अपनी मौत के आमने-सामने होकर उसका योद्धापन नहीं टिक पाता। ऊपर की अकड चाहे तब भी बाकी रहे, लेकिन भीतर से वह कातर बन आता है।

परन्तु जो युद्ध को धर्मयुद्ध बनाकर उसमे जूझता है, जो बुराई से इस निमित्त लडता है कि बुरे समझे जाने वाले को मन से प्रेम करता है, ऐसा योद्धा हार कर मी नहीं हारता, और जीतकर भी नही फूलता। मौत उसके लिए हिसाब की चीज़ ही नहीं है। जैसा जीना वैसा मरना। वह जीवन के लिए मौत स्वीकार करता है और मौत को अन्त नहीं मानता। वह दूसरे के हित मे अपने को इतना अर्पित कर देना चाहता है कि अलग होकर स्वयं कुछ रहे ही नही। उसका युद्ध कभी नही चुकता और थकने की, या हटने की, या रुकने की उसे पल की भी छुट्टी नहीं है। वह पैसे का योद्धा नहीं, प्रकृति का योद्धा है और सोते जागते हर घडी उसकी ड्यूटी है। युद्ध वही असली है जो जाने कब से हो रहा है। समूचा इतिहास उसी का इतिहास है। उसमे विराम नहीं, अन्तराल नहीं। आत्म से अनात्म का वह युद्ध है। प्रत्येक का जीवन मानो

उसी का परीक्षण है। जीवन में हरेक की उतनी ही सार्थकता है, जितनी दूर वह उस युद्ध को आगे तक ले जाता है। योद्धा गिरते है, दाएँ-बाएँ हर घडी वे साँस लेते और छोडते जा रहे है। लेकिन युद्ध कब रुकता है ? वह चलता ही जाता है।

युद्ध धर्म है और जीवन कुरुक्षेत्र है। वही कुरुक्षेत्र फिर धर्मक्षेत्र है। युद्ध से विहीन धर्म विलास है और धर्म से हीन युद्ध नृशंसता है। युद्ध वाला धर्म और धर्म वाला युद्ध व्यक्ति के साथ शाश्वत भाव से लगा है। जो युद्ध धर्म से अलग हो जाता है, या जो धर्मयुद्ध से जी चुराता है, वे दोनो ही सदोष है। लेकिन जहाँ दोनों का समुच्चय और समन्वय है, वहाँ सचाई है और वही जीवन की सिद्धि का मार्ग है।

निषेध बहुत आवश्यक है। एकदम ज़रूरी है कि ज़हर को हम ज़हर जाने और न खायँ। अमृत और विष मे अन्तर है, और उस वक्त तक रहेगा, जब तक कि हम ही व्यक्ति से कुछ और नही हो जाते। भेद-मात्र माया है और अभेद ही सत्य है, यह मानकर अमृत और विष मे भेद करने से छुट्टी आज हम नही ले सकते। वह अवस्था जहाँ विष मे विष-पन न रहेगा और जहाँ अमृत को अमृत समझने की आवश्यकता अशेष हो जायगी, वह ब्रह्मलीनता की अवस्था है। कल्पना से सम्भव हम उसे मान सकते हैं और साधना को उत्तरोत्तर पूर्णता से उत्तरोत्तर सत्य भी उसे बना सकते है; लेकिन अपने को भूलकर हठात् उसे इसी क्षण हम नही अपना सकते। ऐसा करना जान खोना है।

और ऐसा किया जाता है। चेतन होकर मानो आयास-पूर्वक लोग है जो जड बनते जाते है। जगत् मिथ्या है, वास्तव सब माया है—यह कह कर उस वास्तव जगत के परिबोध से वे अपने को मूँद ले रहे है। इन्द्रियो को कुचल रहे है जिससे कि जगत का बोध ही उन्हे न व्यापे ! लेकिन यह अनिष्ट है। इससे जगत नहीं मिटता। अपनी बोध-शक्ति ही ह्रस्व होकर मिट्टी हो रहती है।

इससे सन्यास कर्म से सन्यास नहीं है और कर्म मात्र युद्ध है।

न्याय

हमारे बीच मे एक संस्था है न्याय। वैधानिक उसका स्वरूप है लॉ—कोर्ट यानी अदालत। यह संस्था मनुष्य-समाज मे सन्तुलन को कायम रखती है। अपराध की जाँच-परख करती है और उससे समाज को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करती है। उस संस्था की पीठ पर शासन की ओर से पुलिस की शक्ति है और कानून की शक्ति है। जज और वकील उसी संस्था के सेवक-सदस्य हैं।

यह संस्था शासन-सत्ता (State) की आधार-स्तम्भ है। फिर भी मानो उस संस्था को शासन (Executive) से कुछ अछूता और ऊपर रखा जाता है। कहा जाता है कि न्याय के आगे सब मनुष्य समान हैं। राजा को भी वहाँ वही हैसियत है जो प्रजा की हैसियत है। कानून के आगे ऊँच-नीच का भेद नहीं है।

पर चूँकि सिद्धान्त अपने आप काम नहीं करते, मनुष्यो की मारफत व्यवहार में लाये जाते हैं, कानून के पक्ष का यह दावा असली अर्थ मे कभी पूरा नहीं होता। इसलिए न्याय की वैधानिक संस्था सम्पूर्ण और शुद्ध न्याय नही करती ; बल्कि मुख्य शासन का समर्थक न्याय करती है। शुद्ध न्याय तो अपने से बाहर किसी का समर्थक है नहीं। वह धर्म का अंग है।

इसलिए देखने मे आता है कि मनुष्य जाति के वैधानिक न्याय को

समय-समय पर बदलना पड़ा है और उसमें ऐसे लोगों को अपनी जानें दे-देनी पड़ी है जिनको इतिहास ने पीछे जाकर मनुष्य जाति का उपकर्ता और आदर्श पुरुष माना है।

अर्थात् वैधानिक कानून के ऊपर भी कोई कानून है जिसकी ओर वैधानिक कानून को बढ़ते रहना होता है और उस ऊपर वाले कानून के आदेश पर वैधानिक क़ानून की अवज्ञा तक हो सकेगी।

इसी बात को समझ कर देखें। देखें कि न्याय कैसे सम्पादित होता है।

एक मित्र जज हैं। मैंने उनसे पूछा कि आप अपराधी को सज़ा देते वक्त यह फ़ैसला कैसे करते है कि अमुक को छः महीने की जेल न देकर एक साल की या तीन महीने की जेल देनी चाहिए?

उनका उत्तर था कि इधर आकर तो वह छः महीने या तीन या बारह महीनो की जेल को अपने मन मे कुछ तौलने की ज़रूरत नही पाते हैं। शुरू में ज़रूर चित्त इस बारे मे सावधान रहता था। ऐसा मालूम होता था कि सज़ा देकर मन पर कुछ बोझ ले लेना होता है। उस वक्त तीन और छः महीने में सचमुच दुगने का फ़र्क मालूम होता था, लेकिन अब तो एक आदत है और मन उस पर ठहरता ही नही। सिर्फ सूझ की बात है। तीन सूझ गये तो तीन महीने, छः सूझ गये तो छः महीने। काम इतना रहता है कि हम किसी एक केस पर रुक नहीं सकते भाई।

मैंने कहा कि कैदी के दिन जज के दिनो जैसे नही होते। कैदी के एक दिन मे वज़न होता है। जज के दिन इतने हलके हो सकते हैं कि बेहद। मै कैदी रह चुका हूँ, इसलिए कहता हूँ। जेल से बाहर की जजी मे उन दिनों के भार का अनुमान नहीं हो सकेगा।

जज बोले कि हाँ, यह सही हो सकता है। लेकिन न्याय करते समय हमे वह सब ख्याल रहने का मौका नही है।

मैंने कहा कि क्या अभियुक्त की इन्सानी हैसियत का उस वक़्त

आपको ध्यान रहता है ? उसके बाल हैं, बच्चे हैं, सुख-दुःख मानने वाला मन है, परिवार है। ठीक जैसे हम-आप इन्सान है, वैसे ही वह है यह ध्यान आपको रहता है ?

उन्होंने कहा कि इधर आकर तो बिल्कुल उस तरह का ख्याल नही आता। बल्कि अभियुक्त होकर व्यक्ति व्यक्ति रहता ही नहीं। वह एक अदद, मानो एक अङ्क हो जाता है।

मैंने कहा कि फिर तो वह न्याय नहीं हुआ !

उन्होंने कहा कि जो हो, अदालत वाला न्याय उससे ऊँचा नहीं है। और दैवी-न्याय की बात करने से यहाँ दुनिया मे फ़ायदा क्या है ?

मैंने सुझाया कि अभियुक्त बन कर मै आपकी अदालत में पहुँचूँ तो क्या मेरी इन्सानी हैसियत किसी तरह भी आपके मन में हिसाब के हिन्दसे जैसा शून्य हो सकती है ? आपकी स्त्री मेरी स्त्री को जानती है, बच्चे साथ रहे है, हममें दोस्ती है। मै तो आपके लिये एक अङ्क जैसा नहीं हो सकता न ? इससे क्या यह ठीक है कि अदालत के आगे सब अभियुक्त समान है ?

मित्र बोले कि कानून मे सब समान हैं। लेकिन मनुष्य तो मनुष्य है।

ख़ैर, उस समय से मै जानता हूँ कि क़ानून और न्याय के आगे सब मनुष्य एक समान नही है। जज की बराबरी की हैसियत का आदमी जज के मन में जो हमदर्दी पैदा करेगा, निम्न वर्ग के लिए जज में वह सहानुभूति न होगी। समाज के एक विशेष वर्ग के लिए जज मे अपने-पन का भाव रहता है। उस वर्ग के अभियुक्त के लिए उसके मन मे संवेदन है। उससे नीचे वाले वर्गों के आदमियो को वह आदमी तक माने बिना अङ्को के समान उनका निबटारा कर सकता है। विधान एक मशीन है। उसकी माँग है कि जज दिन में बीस या पचीस या इतने केस निबटा दे। सो गिनती की तरह वह उन्हें पूरा करता है। पर क्या इस विधि से न्याय पूरा होता है ?

पर जो हो, इस प्रकार के न्याय से भी समाज को चलने में सुविधा होती है। ऐसे व्यवस्था तो रहती है। नहीं तो बन्ध टूट जाएँ और काम फिर कोई हो भी तो न सके। आख़िर न्याय को भी दुनियावी हिसाब निबाहना होगा। एक साल में इतने हजार केस हैं और इतने दर्जन जज हैं, तो हिसाब से मालूम हो सकता है कि हर जज के पीछे एक दिन में कितने का औसत पड़ा। जज इतना काम पूरा न करे तो दुनिया का हिसाब उलझ जायगा कि नहीं ?

इन्साफ़ की जो अदालतें बैठी हुई हैं, बेशक उनका काम रुक जाना तो इष्ट नहीं है। लेकिन मुझे कहना है कि यह देखते रहना बहुत आवश्यक है कि उनसे अधिकाधिक न्याय मिलता है, खानापूरी ही नहीं होती। तदनुकूल उस संस्था का भङ्ग नहीं, पर विकास तो चाहिए।

और विकास की दिशा है कि मुजरिम और मुन्सिफ दोनों में सामाजिक हैसियत की विषमता न समझी जाय, न रहने दी जाय। उनमें समकक्षता हो। उससे आगे, भरसक, दोनों परस्पर निकट-परिचित हों बल्कि भाई-भाई सरीखे हों।

जहाँ जज की कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति परिस्थितियों के कारण लगभग बाध्य हो कि वह अभियुक्त के कठघरे में खड़े हुए आदमी को बिलकुल जान और समझ न सके; जहाँ उन दोनों के बीच ऐसी गहरी सामाजिक विषमता की खाई खुदी हो अथवा कि जहाँ न्याय की संस्था को इतना अधिक केन्द्रित बना दिया गया हो, वहां न्याय के न्याय रहने की सम्भावना कम होती जाती है। यहाँ तक कि ऐसी हालत में अदालत सरकार का अङ्ग ही हो जाती है, उस पर वह अंकुश की तरह बिलकुल काम नहीं करती। यह न्याय और शासन दोनों का अपमान है।

न्याय के न्याय होने के लिए आवश्यक है कि वातावरण में सहानुभूति हो और भाई-चारा हो। वर्ग-वर्ग के बीच आर्थिक-विभाजन की, रहन सहन की और रीति-नीति की समता हो। जज जिस समाज का

है, अभियुक्त उसी समाज का अङ्ग हो। अर्थात् न्याय के लिए सामाजिक परिस्थिति ऐसी हो कि अभियुक्त के प्रति जज मे संवेदन शून्यता की सम्भावना कम-से-कम हो। मनुष्य पदार्थ नहीं है और जब पदार्थ की तरह उससे व्यवहार किया जायगा, तब मनुष्यता नहीं बढ़ेगी और सुव्यवस्था का बढना भी भ्रम होगा।

इस लिहाज से वैधानिक क़ानून की धाराओ की गिनती और मुटापा बढने से न्याय की जटिलता तो बढती हो, और चाहे उसकी महिमा भी बढ़ने सरीखी मालूम हो, पर इससे उसकी उत्तमता नहीं बढती। वह ऐसे दुर्लभ होता है। और जिसमे भीतर सवेदन नहीं है, वह न्याय होकर भी न्याय नही है।

अभियुक्त की जगह जो प्राणी खडा है, उसके नित्य-नैमित्तिक सामाजिक जीवन की परिस्थिति को अनुभव द्वारा समझे बिना उसके सम्बन्ध मे कोई न्याय कैसे किया जा सकता है, मेरी समझ मे नहीं आता।

उसी तरह यह भी आवश्यक है कि जज जिस जेल मे अभियुक्त को भेजता है, अनुभव द्वारा वह वहाँ के क़ैदी के जीवन को जानता हो। उस जीवन को बिना जाने जो जेल की सज़ा दी जाती है, वह अपराधी की अपराध-वृत्ति को कम नहीं कर सकता। बल्कि, जैसा देखा जाता है, उसकी जडो को मज़बूत ही करती है। जेल से निकलकर जो और भी पक्का अपराधी नहीं बनता, वह नही बनता तो सिर्फ डर के मारे। भीतर से तो उसके सदा के लिए ही अपराधी रहने की सम्भावना बढ जाती है। और जो केवल भय के कारण अपराध-कर्म से रुका रहता है, उसमें नागरिकता का विकास नही हो सकता। वह हमेशा के लिए ख़तरा है। नागरिकता का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक पडोसी के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन। वह न्याय जो व्यक्ति मे उस कर्त्तव्य की सम्भावना को नहीं बढाता, केवल रोक-थाम करके अपराधो की गिनती को बचाता है, वह न्याय नहीं है। वह तो पुलिस के हाथ मानवता को सौंप देना है।

जज को पुलिस-इन्सपेक्टर का काम करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। अपराधोन्मुख को अगर न्याय-दण्ड द्वारा सिर्फ जैसे-तैसे अपराध-कर्म से वंचित रखा जाता है, उसकी अपराध-वृत्ति के ही शमन करने का भी उससे कुछ उपाय नहीं होता, तो कहना चाहिए कि उस न्याय से न्याय की अर्थ-सिद्धि तो किञ्चित् नहीं होती, उससे केवल पुलिस-कर्म होकर रह जाता है।

न्याय की संस्था दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य से उऋण नहीं हो जाती। बल्कि दण्ड की सम्भावना को उसे कम करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। न्याय की संस्था की सफलता इसमें जाँची जा सकती है कि उसका काम घट रहा है या बढ़ रहा है। जितनी अपराध-वृत्ति घटती है न्याय को उतना ही सफल मानना चाहिए। जेलखाने अन्याय के सूचक हैं। मगर अपराध एक सामाजिक रोग है तो जेलखाने अस्पताल की भाँति होने चाहिएँ और कैदी को रोगियों की-सी सुश्रूषा और सहानुभूति मिलनी चाहिए।

इस भाँति न्याय मानवीय सहानुभूति के ही वातावरण में मिल सकता है। आदमी और आदमी के बीच कानून की जटिलता की जितनी कम दूरी हो, न्याय के लिए उतना भला है। तब सहानुभूति उतनी ही कम दुर्गम होगी। क़ानून की किताबों की तह-की-तह मानो बीच में खड़ी होकर व्यक्तिरूप से जज को और अभियुक्त को अलग-अलग दो कक्षाओं में डाल देती हैं। फ़ैसला तब क़ानूनी होता है और हार्दिकता उसमें कम रह जाती है। इस प्रकार न्याय की मशीन तो झटपट और तेजी से चल सकती है, लेकिन मानव-जाति में कोई समुन्नति नहीं हो सकती।

लेकिन उसके विरोध में उन जज मित्र ने अपने एक अनुभव का हवाला दिया। कहने लगे कि आपके मतलब का न्याय शायद पञ्चायती न्याय है। पञ्चायत में सब एक-दूसरे को जानते हैं। फिर भी पञ्च की हैसियत से वे लोग कुछ अपने से ही ऊँचे उठ जाते होंगे, ऐसी प्रतीति रखी जाती है। पञ्चों का वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों के साथ

भाईचारा होता है। इस प्रकार उचित न्याय की अधिक आशा है, यही आपका आशय है न? लेकिन पञ्चायत का प्रयोग किया गया है और बिलकुल असफल हुआ है। सरकार ने पञ्चायत के पीछे अपना कानूनी संरक्षण तक दिया। पञ्चायत के फ़ैसले की अपील नहीं थी और उसका पालन अनिवार्य बना दिया गया था, लेकिन पञ्चायत पर स्थानीय लोगो का विश्वास जम ही नहीं सका। गाँव के लोग अपने में से किसी को चुनकर मुखिया नही बना सकते। वे अपने ऊपर बना-बनाया एक अफ़सर चाहते हैं। यह तो हालत है भाई। इससे उस प्रयोग को अब छोड़ना पड रहा है।

इस सिलसिले मे उन्होंने एक प्रसिद्ध पुरुष का नाम लिया। इन व्यक्ति की प्रामाणिकता सन्देह से परे थी। उनका जीवन निःस्वार्थता का जीवन था। लेकिन अपने हल्के की पञ्चायत के सरपञ्च की हैसियत से लोग उनका विश्वास करने के लिए तैयार न थे। जज मित्र ने बताया कि वह एक बार दौरे पर गये। वहाँ उनके सामने मामला पेश हुआ और स्थानीय पञ्चायत के सब पञ्च आए। फाइलो के काग़ज़ो मे जब हमारे जज मित्र ने सरपञ्च का नाम देखा तो सम्भ्रम मे रह गये। क्या यही व्यक्ति वह प्रसिद्ध आचार्य है, जिनके उदार चरित्र की छाप बचपन से उनके मन पर अंकित है? लेकिन देखा गया कि उन आचार्य की असन्दिग्ध प्रामाणिकता और सात्विक सादगी मामले के निबटारे मे कुछ काम नहीं आ रही है। उन (सरपञ्च) का फैसला लोगों को मान्य नहीं होता है। और वादी-प्रतिवादियो में से एक दल उन पर सङ्गीन आरोप तक लगाता है।

ख़ैर, उस मामले को न-कुछ देर मे हमारे जज मित्र ने रफ़ा-दफ़ा कर दिया। बात ज़रा-सी थी और ज़रा में हल हो गई। वादी-प्रतिवादी दोनो को उन जज का न्याय मान्य हुआ।

"अब" उन जज-मित्र ने कहा, "मुझ में आचार्यजी के मुकाबिले में कुछ भी तो निःस्वार्थता नहीं है। व्यक्तिगत हैसियत से मै उनसे

कही हीन हूँ। पर मै मामले को सुलझा सका, आचार्यजी कुछ नही कर सके। सो क्यों? कारण एक तो यह कि मै उन गाँव वालो के निकट बिलकुल परिचित नही था। व्यक्तिगत हैसियत से मै उनसे एकदम अलग था और वह मुझ से दूर थे, इससे मेरी तटस्थता मे उनको सन्देह नहीं था। जब कि आचार्यजी उनके पास के होकर अपने सम्बन्ध मे उतनी तटस्थता का आश्वासन गाँव वालों को नहीं पहुँचा सकते थे। दूसरा कारण शायद यह कि मै अफसर था, जब कि आचार्यजी उन्हीं मे के एक थे। इसलिए न्याय को जैसा हार्दिक वातावरण देकर आप सुगम बनाना चाहते है, उस तरह वह दुर्गम बनता है। न्याय की एक वैधानिक और केन्द्रित संस्था होने से वह सशक्त बनता है। न्याय में तटस्थता चाहिये और न्यायाधीश स्थानीय परिस्थिति से ऊँचा और विशिष्ट हो तभी तटस्थता रह सकती है। क़ानून की संस्थाओ से पेचीदगी बढ जाती है; लेकिन न्याय मे तटस्थता सुरक्षित रहती है। न्याय में भावुकता को अवकाश नहीं है।"

जज मित्र की बात को एकाएक काटना मुश्किल है। यह बेशक आज की एक सचाई है। 'घर का जोगी जोगना' रह जाता है, 'आन गाँव का सिद्ध' समझा जाता है। दूरी पैदा होने से मोह सम्भव होता है, पास होने से वह मोह कट जाता है। और मोह में प्रभाव है। आदमी आदमी में मोह के कारण ही भेद मानना सम्भव होता है। राजा हम से बहुत दूर है। हम दोनों मे अन्तर डालने के लिए न जाने कितनी विभूति बीच में मौजूद है। हम कच्चे घर मे रहते है और राजा जिस महल में रहता है, उसकी जाने कितनी ड्योढ़ियाँ हैं, कितने परकोटे हैं। उसका दर्शन दुर्लभ है, ऐसा है तभी तो राजा का राजापन कायम है। यह कृत्रिम दूरी बीच मे न हो तो राजत्व का प्रभाव भी क्या शेष रह जाय? इसलिए जिसको केवल उसकी महिमा से जानते हैं, उस दूर के राजा का तो हम पर असर हो सकता है; पर जो पडोस मे रहता है, हर घडी और हर काम मे जिसका साथ हमे सुलभ है, उसका प्रभाव हम

पर किस तरह कायम रह सकता है ?

इसलिए अगर न्याय सम्भव बनाना है तो अभियुक्त और जज मे अन्तर डालने के लिए एक कृत्रिम संस्था की आवश्यकता है। नही तो, दबाव नष्ट हो जायगा और अभियुक्त खुद जज होने का दावा कर सकेगा।

मुझको प्रतीत होता है कि इस ऊपर के तर्क मे बल है अवश्य। लेकिन यह तर्क स्थिति का तर्क है प्रगति का सत्य इसमें नही है।

क्या वर्तमान ही अन्त है ? कायम रहना भर ही सब कुछ है ? या कि भविष्य की भी सत्ता है ? और उसकी ओर सचेष्ट होकर हमें चलना है कि नही ? क्या मानव अचल है ? या फिर वह विकासशील है तो उसकी संस्थाएँ भी स्थिति के तर्क से घिर कर नही रह सकती। उन्हे गति के तत्त्व को अपनाना होगा। इसलिए हाईकोर्ट की इमारत बहुत ज़बर्दस्त और मज़बूत हो, न्याय के लिए यही काफ़ी नहीं है। बल्कि वह न्याय स्वयं विकासशील हो, यह भी आवश्यक है।

न्याय का विकास दण्ड से क्षमा की ओर है, जैसे कि मनुष्य का विकास क्रूरता से करुणा, शत्रुता से मैत्री और अहंकार से उत्सर्ग की ओर है।

समाज मे स्थिति-भंग न हो, न्याय का लक्ष्य यही आकर नहीं रुक जाता। उस समाज मे जीवित एकता व्याप्त हो, यह भी न्याय का ही साध्य है। इससे जो न्याय अपना दायित्व तात्कालिक समाज-स्थिति (Status Quo) के प्रति ही मानता है, अर्थात् जो उस वक्त के क़ानून से घिर जाता है, वह असल अर्थ में न्याय की माँग पूरी नहीं कर सकता।

गहराई से देखा जाय तो इस प्रकार के न्याय की संस्था तात्कालिक शासन के शुद्ध समर्थन मे बनती है। वह पक्षगत है। वह सब के प्रति एक-सी हो नही सकती। जो दल या वर्ग शासनारूढ़ है, संस्थाबद्ध न्याय उस वर्ग के पैरो को छूता है, जब कि और वर्गों के वह सिर पर बैठता

है। उसके अन्तरङ्ग मे समभाव नहीं, विषम-भाव होता है। वर्ग-हित से वह प्रभावित है। उसकी तटस्थता साधक की तटस्थता नहीं है, मशीन की तटस्थता है। उसमे अगर व्यक्ति और व्यक्ति मे फर्क नही किया जाता तो कबीले मे मशीन की छुरी की धार अपने नीचे पडे हुए गाय और बकरी के सिरो मे ही कब फ़र्क करती है?

इसलिए न्याय मे कानून के सहारे आसानी से सध सकने वाली तटस्थता कोई श्रेय वस्तु नही है। वह क्रूरता भी हो सकती है। व्यक्ति उसमे अङ्क बन जाता है और न्यायकर्त्ता उससे जड बनता है। उसमे सहानुभूति मन्द होती जाती है, यहाँ तक कि न्यायाधीश व्यक्ति रहता ही नहीं, बस एक मशीन का पुर्जा हो जाता है। वह हृदय से काम नहीं लेता, स्टेट की बनाई दण्ड-विधान की पोथियो से काम लेता है। व्यक्तिगत रूप से वह बहुत मीठा है, बहुत सज्जन है, और अतिशय धार्मिक है। लेकिन जज होकर वह जड़ है, वह पोथी का बँधुआ है और अपनी कुर्सी पर मानो वह अपने हृदय को बाद देकर बैठता है।

"लेकिन," जज मित्र ने कहा "आप कहते क्या है? हम लोग हृदय की बात सुने तो कुछ कर नही सकते। ऐसे दुनिया मे काम कैसे चल सकता है?"

मैंने कहा कि हृदय की बात नही सुनकर आखिर आप किस की बात सुनना और मानना चाहते है? जो वेतन देता है क्या उसकी?

जज मित्र मेरी ओर देखते रह गये।

"मुझे इसमे आपत्ति नही" मैंने कहा "आप वेतन-दाता की बात सुनिये। बल्कि वह तो वफ़ादारी है। लेकिन उसकी बात ही न्याय की बात है, यह मुझे मानने के लिए आप कैसे कह सकते है?"

उनका मत हुआ कि ऐसे दुनिया का काम नही चल सकता।

मैंने कहा कि जज कोई न हो तो बेशक दुनिया का काम नहीं चल सकता। लेकिन आप जज न हों, तब तो दुनिया का काम शायद चल सकता है। यो कहिये कि जज हुए बिना पहले तो आप ही का काम

नही चलता। आपको बारह सौ रुपये मासिक मिलते हैं न ?

मित्र बोले कि मै बारह सौ छोडता हूँ। मुझे उस काम मे कोई रस नहीं है। चलो, आप मुझे पाँच सौ ही माहवार दे देना। आखिर बाल-बच्चे तो पलने चाहिएँ।

मैने कहा कि बारह सौ माहवार आप इतने दिनो पाते रहे है। अब ग़लत समझ कर उसे छोडते हैं तो उस ग़लती करते रहने के लिए क्या आपसे उल्टा और प्रायश्चित्त नही माँगा जा सकता? अगर कोई चीज बुरी है तो उसे छोडने के लिए क्या आप कोई बदला माँग सकते हैं? क्या उसका छोड देना ही काफी लाभ नहीं है ?

मित्र ने कहा कि यह आदर्शवाद है। व्यवहार ऐसे नही चलता।

मैने कहा कि व्यवहार के चलने की बात पीछे रखिये। अभी तो बाल-बच्चों के नाम पर बारह सौ मासिक लेकर आप जो काम कर रहे है, वह समाज ने अपने लिए ज़रूरी बना रखा हो, पर मालूम होता है कि आप उसको उस लायक नहीं समझते। तब तो कहना होगा कि बारह सौ एक दुष्कर्म की रिश्वत के रूप मे आप लेते है। क्या यह न्याय है ?

उन्होने पूछा कि आप क्या चाहते है ?

मैने कहा कि मै न्याय को समझना चाहता हूँ। मुझे मालूम होता है कि जब तक आपकी नीतिमत्ता में लोगों का सहज विश्वास नहीं है, आपकी जजी जब तक संस्था-बद्ध है और सरकारी बल पर कायम है, तब तक आपका न्याय सन्दिग्ध है। वह तब सरकारी न्याय है, वास्तविक न्याय नही है। सरकारी न्याय की ज़रूरत हो सकती है, लेकिन वह ज़रूरत काम-चलाऊ चीज की तरह की है। उस पर सन्तुष्ट होकर नहीं रहा जा सकता और जो समाज को आगे बढायेगा, वह उस समाज का जज नहीं हो सकता। उसे जन-सामान्य के साथ सामान्य होना होगा। जिससे यह सम्भव हो सके कि आवश्यकता होने पर, वह जज की कुर्सी के समक्ष प्रचलित कानून के विरुद्ध, अभियुक्त के कठघरे में खडा हो सके।

जो सरकारी पदस्थ के कारण सम्भव बनता है, वह कर्म यथार्थ हित का नहीं हो सकता। गवर्नर गवर्नरी ही कर सकता है, गवर्नर के पद पर बैठ कर कुछ और नहीं किया जा सकता। वह खुद व्यक्ति उतना नही हो सकता, जितना गवर्नर होता है। उसकी निजता उतनी स्पष्ट और प्रबल नही हो सकती, क्योंकि वह पदारूढ है। इससे कुर्सी-वाले न्याय-कर्त्ता से सच्चा न्याय नहीं मिल सकता; क्योंकि वहाँ वह स्वयं होकर नहीं बैठता, जज होकर बैठता है। आत्मा की आवाज वह उस समय दबा सकता है; लेकिन कानून की किताब की आज्ञा उसे माननी होती है।

इस पर मित्र ने बताया कि खुद उनके साथ कई बार ऐसा हुआ है। उनके मन में पक्का निश्चय हो गया है कि सही बात अमुक है, लेकिन गवाहो के बयान से उसको साबित करना मुश्किल था। इससे फ़ैसला मन के ख़िलाफ़ देना पड़ा।

मैंने पूछा कि यह आप लोग कैसे कर सकते है?

मित्र बोले कि हम सर्वज्ञ भी तो नही है। इससे बाहरी बातो के आधार पर फैसला करना क्या बुरा है?

मैंने कहा कि आदमी और आदमी के बीच में सहानुभूति जहाँ नहीं है, केवल कानून ही है, वहाँ न्याय भी नही है। आदमी पदार्थ नहीं है। वह दिल रखता है, वही दिल जो कि जज की कुरसी पर बैठे आदमी के पास है। उसको अलग करके जो किया जाता है, वह न्याय कैसा है?

मित्र ने हँसकर कहा कि आप अराजकता तो नही चाहते?

मैंने कहा कि मै प्रेम चाहता हूँ। प्रेम मनुष्यो को फाडता नही है, मिलाता है। अराजकता मे आपाधापी की ध्वनि है। प्रेम मे उत्सर्ग है। सरकारी सब-कुछ मिटाया नहीं जा सकता। अदालत न रहे तो कौन जानता है कि उससे कितनी न गडबड बढ जायगी। लेकिन अदालत के हाकिम से यह जरूर मै कहना चाहता हूँ कि अदालत को अपने से

सर्वथा सन्तुष्ट नही रहना चाहिए। उसके लिए आत्मनिरीक्षण और भी ज़रूरी है। जज के मन मे क्षमा नही है और व्यथा नहीं है तो दण्ड देने का अधिकार भी उसे नही है। बारह सौ रुपये वाला अधिकार न्याय के मामले मे अधिकार बिलकुल नही रहता। जज का अधिकार तो मानसिक और नैतिक ही हो सकता है। और जो उस दृष्टि से अनाधिकारी है, वह जज बनकर अभियुक्त के कठघरे मे खड़े होने लायक बनता है। क्या आज आप कह सकते है कि कितने जज हैं जो अपने काम मे अन्तरात्मा का खयाल रखते है? नहीं रखते तो क्यो न कहा जाय कि वे अपराधी है? हमारा कानून उस अपराध को नही पकड सकता, लेकिन क्या सचाई के कानून से किसी की बचत है?

मित्र हमारे ईश्वर-परायण और धर्म-भीरु व्यक्ति है। वह स्वयं ईश्वरीय न्याय को मानते है। लेकिन इस बात मे उनको विशेष अर्थ दिखाई नहीं दिया कि जजी दुष्कर्म है। वह मानते हैं कि कर्म वह दायित्वपूर्ण है और बारह सौ मासिक जो उस काम का उन्हे मिलता है, वह भी इस दृष्टि से उचित ही है कि जज जन-साधारण से कुछ विशिष्टता की स्थिति मे रह सके। नहीं तो न्याय के लायक तटस्थता उसमे नही रह सकती।

मैने हँसकर कहा कि आप बारह सौ बेशक क्यों छोडे। इसमें हम जैसे आपके मित्रो को भी लाभ की आशा है न?

वह बोले कि यह पैसे की बात नही है।

मैने कहा कि पैसा छोड़ देने पर ही ठीक पता चलता है कि किस बात में कितना पैसे का अंश है। उससे पहले पता नही चलता। लेकिन आपकी निश्चिन्तता मै भङ्ग नही करना चाहता।

…ख़ैर, मित्र जज हैं और अब वह अवकाश लेने वाले है। साथ पेन्शन भी लेंगे। मुझे जब मिलते हैं, मानते जाते है कि बेशक क़ानून का न्याय हृदय के न्याय से घट कर है। हम लोग जाने अपने ऊपर कितना अन्याय करके न्यायकर्ता का काम चलाते है।

पर न्याय-अन्याय जो हो, आप निश्चय रखिए कि न्यायाधीश का पद जब छूटेगा तभी उनसे छूटेगा। उस पद और उस वेतन को वह मानसिक विश्वास के बल पर छोड़कर समाज में कुछ लाभ पैदा नहीं करेंगे। क्योंकि वह ऐसे धार्मिक हैं कि संसार की बातों को विशेष महत्त्व नहीं दे सकते।

वह जो हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि न्याय खरा उसी के हाथों हो सकता है जो व्यक्ति स्वेच्छा से अकिञ्चन हो गया है। जो उसके पास है, बस प्रेम। वही उसका समूचा धन। उस प्रेम में वह अपने को नीच-से-नीच का भी सेवक देखना चाहता है। अपराधी का अपराध वह खुद अपने में देखना चाहता है। इसलिए खुद वेदना लेता है और दूसरे को स्नेह ही देता है।

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

आज मैं कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग में होता है। धर्म मे त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नही होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की रीति उलटी है। ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है। गर्म-तेज बात रास्ते में इन्द्रिय-विषयो को चहका कर उस चक्कर मे रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी हो आती है। भोग के स्वाद में यही तो है—आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि सामने से रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्यूषण के दिन ज़ोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृत्ति को मैं मथ डालना नही चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मै कैसा निर्बल हूँ। कोई आग-सी लहक आप में जाग उठे, ऐसा काम मै नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमे दूसरा कोई नहीं जलना है; हमारे विकार ही जलते है। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे मे पढ रहा था। दाद को जितना खुजाओ उतना ही मजा आता है। असल मे उसके छोटे-छोटे कीडे बदन पर फैले होते है। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हे पिलाते हैं। उस मज़े का मतलब उन कीड़ों

का मज़ा है। अपना खून उन्हे पिलाते और रस मानते है। आपस के विवाद और वितंडा से जो मज़ा अक्सर आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमे हम अपना खून पीते और मजा मानते है।

आज के परचे मे आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मै हूँ। मैने ही वह विषय दिया। पर सुनने मे वह क्लिष्ट हो, आप देखेंगे कि हमारे और आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुँच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मै विद्वान् नहीं हूँ। पर आज तो मै उसे सद्भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिसा मे और महावीर की अहिसा मे और बुद्ध की अहिसा मे और गाँधी की अहिंसा में क्या तार-तम्य और क्या उनमें सूक्ष्म भेद है? यह विषय मुझ जैसे अबोध की पात्रता से बाहर है। यह मेरा सौभाग्य नही तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म-चर्चा मे गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मै कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझे नही मिला है। अपने से दूर जाकर मै कुछ नही पकड पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्त्व हो तो उसकी उधेड-बुन मे मै किस आधार पर पड जाऊँ?

विषय के दो हिस्से है। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमे समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगडना नही चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय? हममे से हर एक साढ़े-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नही। हर काम और हर बात मे अपने सीमित होने का हमे पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओ के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म हैं।

यह बात साफ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ है। मन भागकर दुनिया मे दौडता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या-क्या अपनी मुट्ठी मे कर लेना चाहती हैं। अपने ही इन तत्त्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते। हमारी जो हदें है उन पर पहुँचकर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओ की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते है।

जैसे सपने की ही बात लीजिए। आप रोग में खटिया से लगे पड़े है, पर सपने ऐसे उडते है, ऐसे उड़ते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नही। बादल पर सवारी करते हैं, सारी दुनियाँ को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते है। दिन के काम में आप बँधे हुए है। पर रात के सपने मे एकदम खुल जाते है।

मै उन आदमियो मे नहीं हूँ जो सपने को सपना कहकर उडा देते है। मै तो वहम को भी मानता हूँ। इसी तरह सपना दिन की धूप मे सपना हो, पर रात मे आँख मिचने पर वही सच होता है। हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है। और मै यह भी आपको कहना चाहता हूँ कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते। अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नही तो रोग ही फिर क्यो होता? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है। सपने के कारण हममे सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है।

पर एक बार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पडी। ऐसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ। पर देखा तो वह सो रही थी। थोडी देर मे फिर चीख हुई। अब के वह उठ पडी थी। माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी। मैने पूछा, "क्या है?" बोली, "कुछ नही।" यह "कुछ नहीं" उसने झूठ नही कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है। और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नही' है। इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है,

जिसका दूसरा नाम है स्वप्न, वह एक दम असत्य नही है। उसमे से चीख् निकल सकी, उसके वदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आपको यह बतलाने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम मे जब बेहद झगड़ा पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित है, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनो सीम और असीम के तनाव (Tension) मे से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियो की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उनमे विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हे हठात् इन्कार करके हम उन्हे अपनी जकड बनाते हैं। और अगर हम उन सीमाओ को आगे बढाना चाहते है, यानी अपना विकास करना चाहते है, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्धा मे नही।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिए। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़ने मे बहुत तेज है—एफ० ए० पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि खूब ऊँचे ख्याल उसके हो गये हैं। उसका घर गाँव में है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान है। लेकिन पढ़-पढ़कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतन्त्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता में पडे हुए हैं।

अब कल्पना में लाइए कि इस बालक का परिस्थिति के साथ कैसे मेल बैठेगा? क्या वह जो बालक सोचता है, गलत है? गलत तो नहीं है। पर अगर उसके सही होने के जोश मे घर मे पाँव रखते ही वह

बालक माँ-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है; कहता है कि तुम वहम मे पडे हो, और मै इस घर में खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है, तो आप क्या कहेंगे? उसे विद्वान् कहेगे या मूर्ख कहेगे? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियो पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिए, मैं जैन-कुल मे उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य-ही-असत्य है, यह नही मानना चाहता। ऐसा जैनत्व, जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को गलत ठहराए, मेरी तबियत नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या अपमान या अनादर किसी के प्रति भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ? क्या ऊँची गर्दन करके यह कहूँ कि मै जैन नही हूँ, मानव-धर्मी हूँ; और तुम जैन-धर्मी हो तो भूल मे हो? मै मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन-धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है? अगर नही, तो जैन धर्मावलम्बी होकर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने मे क्या बाधा है? इसलिए जिसको परम्परा से जैन-धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पडेगा इसकी मुझको कोई ज़रूरत नही मालूम पडती।

छुटपन मे कहानी पढी थी कि चन्दा देखकर रामजी मचल गए। रोवें सो रोवें। मानकर ही न रहे। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देखकर हाथ लपकाते थे, पैर अपनी जगह छोडकर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी जमीन छोडकर चन्दा राजा की तरफ़ उछाँच भरने जितनी कहीं बदन मे शक्ति होती, और माँ पास न होती, तो रामजी

गिर-गिरा कर अपना सिर ही फोड लेते। पर ग़नीमत कि उनमे इतनी ताकत न थी और माँ भी पास थीं। आखिर माँ ने क्या किया कि थाली मे पानी भरकर उस चन्दा राजा को आसमान से नीचे थाली के बीच मे उतार लिया। राम जी उससे मगन हो गए, और सो गए।

हम सब पर माताएँ तो रह नही गई है। मेरी माँ तो मुझे छोड ही गई है। उनके अभाव मे, यह समझ कर कि हम बडे है, क्या चाँद पर हमे मचलना चाहिए? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से हममे देखने की शक्ति हो, या अपने भीतर अक्स मे लेकर उसे हम बिठा सके! और इस तरह जिस धरती पर हम खडे हैं उस पर से अपने पैर उखडने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर में उडकर चाँद तो हम पायेंगे नही, जहाँ हैं वहाँ से भी गिर पडेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चो के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। कदम-कदम पर स्थिति-भंग का खतरा हमारे लिए है। मै बालक हूँ ही, पर दुनिया मे कुछ है जो अक्षर पढ़कर साक्षार बने हैं। उन में उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड दौडते और ऊँची फांद लगाते हैं। वे यहाँ तक क्यो मानें कि वे कम है? उन्हे अपने खेल मे आनन्द है। गिरते हैं तो उन्हे हक है कि उसमे से वे सबक न लें बल्कि खेल का और मज़ा लें। वे उस आनन्द की अतिशयता को झेल नही सकते, इससे हम तुमको भी वह आनन्द देना चाहते हैं। अब हम क्या करें? हमारे पास माँ है, या कोई हमे माँ तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म-संकट मे हम वही पहुँच जायँगे। पर यदि हम कुछ बडे हो गए हैं और माँ हमसे छिन गई है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमे नहीं है, तो उपाय होगा कि स्वधर्म को हम अपने पकड़े रहे और उसकी गोद न छोडें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानो समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक हैं या युवा है; या

अपने परिवार में बडे है या नगर-मान्य है, या समाज-रक्षण की कुछ ज़िम्मेदारियाँ हम पर है, अथवा राष्ट्र नेता है या कि लोकनायक हैं—इन सब हालतों में हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग-अलग हालतो मे सीमाएँ भी अलग है। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियो मे उन्हीं सीमित स्वधर्मों के पालन मे हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक ज़िम्मेदारी निबाहने के योग्य नही बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बडे क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्वजनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड-प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म संक-रता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनो उससे क्षुब्ध होते है।

स्वधर्म शब्द मे ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात् दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए पर-धर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो ? "स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मोः भयावहः।" अर्थात्, स्वधर्म न छोडना और पर धर्म न ओढना। परधर्म पर का धर्म है। मेरा वह नहीं है। परधर्म मानकर भी मुझे उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारा दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी में नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वा-धिकार नहीं है। आदर्श में खण्ड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य मे हम-तुम सब समाये है। सब धर्म उसमें अभिन्न हैं। सब जीव उसमें एक हैं। असल में तो सभी तरह का द्वैत उसमें लीन है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसी को कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ भी। हमें अपनी पृथकता में जीवात्मा है, अपनी एकता में

परमात्मा।

उस एक की झाँकियाँ अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह उसे अपने ही रूप मे देखता है। उनमे कोई झाँकी ग़लत नहीं है। वे एक-दूसरे की पूरक है। वे एक-दूसरे से भिन्न है, पर अपनी-अपनी जगह एक-सी ही सही है। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे, दूसरा धुँधला। वह तो चित्र-दाताओ पर है। कोई उसे अपने जीवन मे एक रूप मे प्रतिफलित करे, दूसरा दूसरे रूप मे घटित करे—वह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनो स्थानो पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौकूफ़ नही है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब-कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब-कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोप नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोप एक तरह से परधर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म मे निधन अच्छा, परधर्म का स्वीकार कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते हैं तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते है। यह तो हिंसा है।

मै इसी ढंग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रहकर मुझे मौत आती हो, हर्ष से मुझे उसे भेटना चाहिए। अब अहिंसा की पहचान यह कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त वैसा ही मै त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमानो को हिन्दू बनाने मे नहीं; बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने मे मदद देने के लिए, अपना सब-कुछ होमने की लगन मुझमे जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूँ, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मानकर गो-कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम-भाव से उस भाई का हृदय जीतूँ या मुझमे सचमुच इतनी करुणा हो कि गाय की रक्षा के लिए अपनी गरदन मुसलमान भाई को दे दूँ। पर थोडी देर के लिए समझिये कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित होकर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिलकुल उचित होगा कि मै उस भूले गो-भक्त की राह में बाधा बन जाऊँ और अपने जीते जी उस मुसलमान भाई को कुरबानी मे बलात् विघ्न न पडने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न होगा जब स्वधर्म पर आरूढ रहने की हम मे निष्ठा हो। वह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमें स्वधर्म-निष्ठा नहीं है, दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमे नहीं होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोडकर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परमधर्म मे अब भी है ही। फिर जो उसमें स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यो? मन का ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग मे दो शरीर अपनी पृथकता सहन न करने के कारण मिलते है। इसी से भोग का फल ऐक्य नही, अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोडे दिनो बाद उनका प्रेम उड जाता है। मैंने तो सौ फीसदी यह बात देखी है। क्यो ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए प्रेम मोह बना, मोह से काम आया। और फिर तो देखा गया उसकी पूँछ मे घृणा आ गई है, प्रेम उड गया है।

आज मै इस बात को बहुत ज़ोर से कहना चाहता हूँ। क्योंकि

लोग है जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी हैं। उनका अभिप्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डन करना चाहती है, वह सच्ची एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक-दूसरे से पवित्र रखकर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उसमें अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

बहुत लोग है जो बहुत ऊँचे उठ गये है। यानी वे नामधारी सब सम्प्रदायों, जातियो, धर्मों और हद्-बन्दियो से पार हो गये है। वह विश्व की एकता में रहते है। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हो, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नही कर सकते है। जो स्वयं नही है, वह सब-कुछ कैसे हो सकता है। शरीर से कोई विश्व में कैसे रह लेगा ? रहेगा तो एक कमरे मे ही। इसी तरह सब भाषाएँ कैसे बोल लेगा ? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या ? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हमको एक परम-धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिंसा। मेरा अपना धर्म सीमित है, यह मुझे क्षण के लिए भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मै नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाज़ा है कि मै ऐसा न करूँ। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी में निष्ठित रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसका आशय है कि वाक् शक्ति, प्रचार शक्ति अथवा किन्ही भी और साधनो से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नही रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा

विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे जानते है कि हम जो जानते है वही ज्ञान की परिसीमा है? अगर परिसीमा नही है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं। अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उससे न डिगने मे मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है यह ध्यान रहे कि उस आग्रह की सीधी चोट मुझसे बाहर कही न पडे। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य है, तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहाँ आग्रह भी सत्य नही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य मे तो सभी समाया है—मेरी झाँकी भी, मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप सम्पूर्ण सत्य को ध्यान मे लें तो आग्रह की कहाँ गुञ्जाइश रह जाती है?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य मे तो सब भेद लय है। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नही। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उसको नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी है। इससे जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योंकि जिसके प्रति हिंसा हो, उसमे भी तो ईश (सत्य) तत्त्व है। इससे हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है और अहिंसा ही सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण है, इसी से हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परम धर्म हम पर लागू है।

मै नहीं जानता कि अपनी बात आपके आगे मै साफ रख सका हूँ। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणो के साथ खोलकर रखता। मै मानता हूँ कि अन्तिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और प्रस्तुत अवस्था यानी हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारो के बीच सतत विकासशील धर्म की स्थिति को भी, और गति

को भी कैसे निबाहा जाय—यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवन-कला है। और इसी का ज्ञान सम्यक्-ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष वास्तविकता—इन दोनो तटो को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर है दूसरी ओर अध्यात्म में हमारी निष्ठा है। यो दोनो परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। किन्तु विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है, नष्ट नही होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरी उपाय नहीं है। किसी तत्त्वशास्त्र या तर्क-शास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिण्ड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान रहे कि पिण्ड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिण्ड यह पहचानेगा तो अपनी पिण्ड-रूपता से उसका झगडा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े तीन हाथ के शरीर में रहकर भी अन्तःप्रकृति मे व्यक्ति निखिल के साथ तन्मय होगा, व्यष्टि समष्टि होगा।

अन्त मे जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा मे उसके बारे मे हमे क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिए।

१—व्यक्ति रूप मे हम सीमित हैं। इससे स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

२—वह स्वधर्म है, इससे हम से दूसरे के लिए वह परधर्म है। मुझ पर वह लागू नही है।

३—स्वधर्म पालन से स्वधर्म की मर्यादा आगे बढती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

४—स्वधर्म के पालन मे मुझे मृत्यु से भी मुँह मोडने का हक नहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म मे ही निष्ठित रहने मे सहकारी बनूँ।

५—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म-निष्ठ और उसके पालन में अपने प्रति निर्मम होता है वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार,

आदरशील और समभावी होता है।

६—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नहीं। बल्कि दूसरे मे आत्मवत् वृत्ति रखकर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतना ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है, जितना स्वयं स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क-कौशल या शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अन्तःसिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है।

७—आदर्श अखण्ड है। उस पर हमारी अपूर्णता का सीमा विभाजन नही है।

८—जगत् के नाम-रूपात्मक सब धर्म अमुक सम्प्रदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित हैं। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप हैं।

९—सब धर्म सच है। उनकी सचाई में तरतमता नहीं है। इसलिए उनमे तुलनात्मक बुद्धि ग़लत है। धार्मिक की अन्तःशुद्धि की अपेक्षा उन मे सचाई पड़ती है।

१०—आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सबके लिए सम-सामान्य और परम धर्म है।

११—असीम को पकडने की लालसा मे सीमाओ को लाँघना या तोडना ग़लत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रहकर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नहीं है। और शरीर मे रहकर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनन्त दूर, तक उन्नति कर सकता है।

१२—ऐक्य आत्मा मे है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायगी। आत्मैक्य साधने के लिए शरीर को पवित्र अर्थात् असंपृक्त रखना चाहिए। यह अनुभव की बात है कि भोग से व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढता है और संयम से उनमे प्रेम दृढ होता है।

१३—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट होकर, क्षुब्ध होकर, ऊपरी जोड-तोड

बिठाने से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढंग के नेकनीयती से किये गए प्रयत्न विशेष-फल न ला सकेंगे। रूपाकारमय वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आँच मे ही पहुँच कर अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नहीं है।

१४—दूसरे के स्वधर्म के लिए अपने स्वधर्म का अल्पांश भी त्याग किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा-धर्म स्थितिबद्ध नही, बल्कि गतिशील है। इसलिए अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता। अपने प्रति निर्मोह दूसरे के प्रतिप्रेम की अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ सकती है। पर अब मै पीछे रहूँगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब मै आपसे अपनी जगह जाने की अनुमति ले लेता हूँ। क्षमा करें। प्रणाम![1]

---

१. भाषण—पर्यूषण व्याख्यानमाला, कलकत्ता

अहिंसा की बुनियाद

जैन-धर्म को मै इतना जानता हूँ कि वह आत्म-धर्म है। आत्मा सब मे है। सब मे परमात्मा है, पर हममे वह मूर्छित पड़ा है। जिन्होंने परमात्मत्व का लाभ किया है, उनमे आत्मा का शुद्ध चिन्मय रूप अपने निर्मल कैवल्य में प्रस्फुटित हो गया है। आत्म-धर्म होकर जैन-धर्म एक ही-सा सबके उपयोग का हो जाता है। इसी से दूसरा इसका नाम अहिंसा-धर्म है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा, यानी दूसरे सब जीवो मे आत्मोपमता। जो है वह सब मे है। जिससे मुझे चोट लगती है, उससे दूसरे को भी त्रास होता है। इससे जो मै नहीं चाहता कि मेरे प्रति किया जाय, वह मुझे दूसरे के प्रति भी नहीं करना है। अहिंसा की प्राथमिक भूमिका यही है। लेकिन अहिंसा तो परम धर्म है न। इससे जीवन के सतत और चरम-विकास मे कही उसकी उपयोगिता समाप्त नही होती। वह अचल तत्त्व नही, गतिमय और विकासशील धर्म है। उसके प्रयोग को चुकाया नही जा सकता। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ है और जब तक व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो जाता तब तक अहिंसा का उसे सम्बल है। यानी दूसरे को दुःख न पहुँचाओ, यहाँ से अहिंसा शुरू होकर दूसरे के हित मे निछावर हो जाओ, इस शिक्षा की ओर अग्रसर होती है। इस दिशा मे अहिंसा की माँग बढती ही जाती है। अहिंसक के पास अपनेपन जैसी कोई चीज़ नहीं रह जाती।

सांस भी वह अपने लिए नही लेता। यहाँ त कि उसे अपनी मुक्ति की भी कामना नही रहती। प्राणियो की 'आर्ति' को दूर करने मे वह काम आता रहे, यही उसकी भावना रहती है। शेष से अलग जैसे उसके पास अपना कोई निजत्व ही नही रह जाता। इस तरह उसका जीवन लोक-जीवन के साथ तत्सम होकर विराट हो जाता है। उसका हृदय उत्तरोत्तर शुद्ध होकर इतना ग्रहणशील हाता जाता है कि वातावरण मे व्याप्त त्रास की रेखा भी उसके चित्त को आन्दोलित कर देती है।

इस अहिंसा के धर्म मे मेरी निष्ठा है। सचमुच वह ग्रन्थो मे से मुझे प्राप्त नही हुआ। जीवन मे जो असफलताएँ, सघर्ष, हीनताएँ झेलीं, उन्हीं मे से यह दर्शन फूट निकला है।

आज हम जिस समय मे रह रहे है, साँस भी वहाँ घुटता है। खाना, सोना, रहना सब एक समस्या बना है। बडे सवालो की बात मै नहीं करता। राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलो की पेचीदगियों से वे उलझेंगे जो उसमे पडे है। लेकिन हम भी उस उलझन से बाहर नही है। सात समुद्र पार हो रही लडाई से हमारा भाग्य भी हिलता है। वह लडाई अब तो किनारे आ रही दीखती है। पर क्या हमें कुछ अपने भाग्य का निस्तार दीखता है? मानो जीवन की समस्या लड़ाई निबटने पर सुलझेगी नही। वह उल्टे कहीं और कसी हुई ही न दिखाई दे। हर चीज़ का मूल्य तिगुना हो गया है। हाँ, सिर्फ पैसे का मूल्य तिहाई रह गया है। समस्या इस पैसे की है। वह सरल और सीधी नहीं है। ज़रूरी चीजों के लिए सबके पास ज़रूरी पैसा नही है। कही वह बहुत है, कही वह बिल्कुल नहीं है। अनाज खेत मे उगता है, पर पैसा वहाँ पैदा नहीं होता। पैसा ऐसी चीज़ नहीं है कि भगवान् के दिए हुए दो हाथों की मेहनत से कोई पैदा कर ले। उसके पैदा करने में कुछ ऐसी चीज़ की ज़रूरत भी होने लगी है, जो भगवान् ने नहीं दी। पैसा एक राजनीतिक संस्था है। राजनीति मनुष्य की अपनी बनाई हुई चीज़ है। राजनीति और अर्थनीति को जुडवाँ जोडी समझना चाहिये। दुनिया का

अर्थ-चक्र एक ऐसा यन्त्र है, जिसकी बारीकी और पेचीदगी की तुलना कोई दूसरा यन्त्र नहीं कर सकता।

मै मानता हूँ कि अहिंसा इन प्रश्नों से तटस्थ नहीं रह सकती। वह पानी क्या, जो आग बुझाये नहीं। अहिंसा अपनी निजता के वृत्त में सिद्ध नही होती है। मै अपने प्रति अहिंसक हूँ, इसका कोई अर्थ ही नही। उसकी तो सामाजिक और आपसी व्यवहार मे ही सार्थकता है। इससे राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय सब सवालो की चुनौती उसे स्वीकार करनी होगी, जो अहिंसा को धर्म मानता है। अहिंसकों को साबित करना होगा कि उनकी अहिंसा इन सवालो की ललकार पर पीछे रहने वाली नही है, बल्कि वह उनका सामना और समाधान कर सकती है।

धर्म के भी और सब चीज़ो की भांति दो पक्ष हैं। सत्ता कोई बिना दो सिरों के हो नहीं सकती। धर्म का एक मुख उस सर्वात्मया परमात्मा की ओर है, जो एक, अभिन्न, अखण्ड है। धर्म का यह पहलू अनिर्वच-नीय है। वह चर्चा और विवेचन से अगम है। उसकी साधना एकान्त मौन मे है। उपासना, पूजा, भक्ति, प्रार्थना सब उसी के ध्यान के रूप हैं। इसमे व्यक्ति अपने को विश्वभाव से देखता है। या कहो कि विश्वात्मा के प्रति समर्पण द्वारा वह अपने को रिक्त करता है। वहाँ शब्द मात्र उपलक्ष है। मूर्ति, प्रतिमा, स्तोत्र, नाम आदि सब बाह्य साधन हैं। नाम कुछ हो, शब्द कुछ हो, उपास्य मूति का आकार-प्रकार कुछ हो, मन्दिर कही या कोई हो और पूजाविधि भी चाहे जैसी हो, इस अन्तर से कोई अन्तर नहीं पडता। इस अन्तर का वहाँ मूल्य नही है। वहाँ तो व्यक्ति के निःस्व समर्पण की ही मांग है। इस भक्ति-योग का जहाँ जितना सद्भाव है, धर्म की वहाँ उतनी सफलता है।

यह तो धर्म का निश्चय और वैयक्तिक रूप है। वाद अथवा विवाद का यह विषय नही है। इसमे व्यक्ति अपने अन्तःकरण या सर्वान्तर्यामी के प्रति ही दायी है। शेष का उसमे कोई दखल नही है। यह तो आत्म-शक्ति के संचय का रूप है, प्राण-साधना का विधान है।

किन्तु शक्ति की सार्थकता अपने में तो नहीं है। वह उसके उपयोग में है और यही धर्म का दूसरा पक्ष आता है। इसका मुख जगत् की ओर है। सच यह कि धर्म की कसौटी जगज्जीवन है। हमने प्राणो मे कितना और कैसा बल प्राप्त किया है, वह धार्मिक है अथवा अन्यथा है, उसकी परख बाहर जन-समाज मे हा है। यह जो अपने से पर प्रतीत होने वाला असीम बाह्य जगत् फैला है, क्या यह हमारे अन्तर्जगत् से एकदम भिन्न चीज़ है? सचमुच वह अलग नही है। अन्तर और बाह्य मे वही सम्बन्ध है जो सिक्के के दोनो पहलुओं मे है। इससे जीव का लक्षण ही है परस्परोपग्रह। परस्परता वह वायु है, जिसमे जीव पनपता है। अत: आत्मस्थ व्यक्ति का स्वभाव ही है आत्मदान। जिसने अपने को पाया, उसके लिये अनिवार्य हो गया कि वह अपने को दे। सच यह है कि खोकर ही सदा अपने को पाया गया है और सेवा मे ही स्वास्थ्य और सामर्थ्य सार्थक हुए हैं।

धर्म के ये दोनों पक्ष परस्पर को धारण करने वाले हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। आध्यात्मिकता जगत् से पराङ्मुख होकर स्वयं दूषित होती है और आत्मा की ओर से विमुख होकर सांसारिकता भी प्रवंचना है। धर्म की साधना में इस प्रकार की एकांगिता आने का सदा खतरा है। विरागी जन मुक्ति की खोज मे वन मे भटक गये हैं और संसारी जन सुख की तलाश मे इस व्यूह-चक्र मे ही अटक रहे है। एक को भूल कर दूसरे की सिद्धि भला कहाँ रखी है? सत्य द्वैत मे थोडे ही सकता है। सत्य तो अद्वितीय और अखण्ड ठहरा, ऐक्य में से ही उसकी साधना है। जगत् और ब्रह्म उसके निकट दो नहीं है। माया भी वहाँ ब्रह्म की ही लीला है।

इसी को जैन-भाषा मे कहा जा सकता है। महावीर राज छोड वन में चले गये। वहाँ बारह बरस तपस्या की। तपस्या के बल से कैवल्य पाया। उस केवल ज्ञान को ले कर क्या वह फिर विजन मे रहे आये? नहीं, तब उनका मुख जन और जगत् की ओर हुआ और शेष जीवन

उन्होंने उस ज्ञान के वितरण मे लगाया। जो उनके पास था उसे सब मे बाँटे बिना उन्हे चैन कहाँ था। इस प्रयास में वह उत्तरोत्तर अकिंचन और निर्द्वन्द्व होते चले गये, यहाँ तक कि अन्तिम बाधा यह शरीर भी उनसे यही के लिये छूट गया।

महावीर का आप स्मरण करते है, पर किस आधार पर ? उनका आपके पास क्या शेष है ? कोई यादगार उनकी नहीं, अवशिष्ट उनका नही। यहाँ तक कि इतिहास भी उनका इतिवृत्त पूरी तरह नहीं जुटा पाता। फिर भी आपके हृदय में वह स्वयं आपसे अधिक जीवित हैं। क्या उनके लिये आप मे अपना जीवन निछावर करने की ही इच्छा नहीं पैदा हो पाती ? क्या आप नही मानते कि आप धन्य होगे यदि उनके काम आ सकेंगे ? यह सब इसलिए कि महावीर के नाम से आप मे अपने चिदानन्द निज रूप का स्मरण जाग उठता है।

यहाँ एक बात विचारने की है। धन बडे काम की चीज़ है न ? उससे तरह-तरह के परोपकार के काम किये जा सकते हैं। भूखों को अन्न दिया जा सकता है और दीनो के अभाव को भरा जा सकता है। फिर सत्ताधिकार का और भी अधिक उपयोग है। अफसरी और नामवरी के लिये लोग इतना धन जो लुटाते हैं, सो व्यर्थ थोड़े ही। उसमें कुछ-न-कुछ सार्थकता तो मालूम होती ही होगी।

लेकिन महावीर राजकुल मे जनमे। सम्पदा उनके पास और शासन उनके हाथ। सीधी-सी बात है कि वे दुनिया का बहुत लाभ कर सकते थे, लेकिन उन्होंने वैसा कुछ उपकार का काम नहीं किया। उलटे यह सब छोडकर वह अन्तर्मुख साधना मे लग गये।

मै पूछता हूँ कि फिर यह क्यो है कि हम उनका उपकार मानते है और वह इतना अमित कि उनकी मूर्ति के चरणों मे बिछकर ही हम परम धन्यता का अनुभव करते हैं ? क्या इसीलिए नहीं कि उन्होने हमारे शरीर, बुद्धि, मन की चिंता न कर हमें हमारी आत्मा का ही दान किया। हममे हमारी ही सुधि जगाई।

देखने में क्या यह नादानी नही कि जिस धन से अपना और दूसरे का लाभ हो सकता है, उससे जान-बूझ कर हीन बन जाया जाय ? फिर भी महावीर ने वही किया। उसी करने को हम परम और चरम पुरुषार्थ पहचानते है और उसके लिए महावीर को तीर्थंकर मानते हैं।

यहाँ फिर हम रुके। यह सच है कि हम बन्धन नही चाहते, हम स्वतन्त्र और मुक्त होना चाहते हैं। धन उसी निमित्त हम कमाते है। धन के बिना हम अपने चारो तरफ जकड़ अनुभव करते हैं। धन जैसे हमारे बन्धन खोल देता है। दरिद्र के मनोरथ उसे कष्ट देते है। धन से मन-चाहा किया जा सकता है। अपने भीतर की इसी आज़ादी की खोज में हम धन कमाते हैं, और क्योंकि आज़ादी का कहीं अन्त नहीं है, इससे धन की तृष्णा का भी अन्त कैसे हो सकता है ?

लेकिन जिस मुक्ति के लिये हर कोई हर क्षण छटपटाता है, वह पाई तो किसने ? क्या उसने जिसने अतुल धन-राशि एकत्रित की या एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया ? चक्रवर्ती भी हो गये है और कुबेर भी हो गये है, लेकिन क्या किसी के बारे में भ्रम है कि इनमें से किसी ने अपने अपार धन और सत्ता के बीच अपने को मुक्त अनुभव किया ? क्या उन्होने ही अपने जीवन से प्रमाणित और अपने शब्दो मे यह स्वीकृत नहीं किया है कि यह समस्त वैभव उनके चारो ओर के बन्धन का जंजाल ही था ? सेनाओ और दरबारियो से घिरे हुए राजाओ ने क्या अन्त मे नहीं पहचाना कि वे जितने ऊँचे थे, उतने ही वे इकले और एकाकी थे ? जितने वे दूसरे के शासक थे, उतने ही वे परतन्त्र भी थे।

इसके साथ क्या हमारी ही अन्तरात्मा इस बात की साक्षी नहीं देती कि मुक्ति का रहस्य और उसका आनन्द था उन लोगो के पास, जिनके पास पूँजी के नाम केवल प्रेम था, अन्यथा जो अत्यन्त अकिंचन और निरीह थे, जो स्वयं शून्य थे और सम्पूर्ण रूप में आत्म-शासित थे।

इस विस्मय पर हमें कुछ रुकना चाहिये कि जो चलने-फिरने, खाने-पीने तक के बारे में एकदम परतन्त्र है, जिसके पास अपना कहने को कुछ नहीं है, ठीक ऐसा ही आदमी है जो सर्वथा स्वतन्त्र है। वह अभय है, मुक्त है, आप्त है।

इसके विरोध मे जिसके पास सब-कुछ है वह दीन, दरिद्र और बन्धन मे जकडे प्राणी के समान है। वह काल से, मनुष्य से, पडौसी से शंका करता हुआ जीता है और जीवन के वरदान को अपने लिए अभिशाप बना डालता है।

इसके भीतर हम जायँगे तो देखेंगे कि इच्छा की मुक्ति बन्धन का ही दूसरा नाम है। इच्छा तो अनन्त और असीम ठहरी, पर बाहर उसकी सीमा है और उसका अन्त है। इच्छा उसी बाहर की ओर जाती है। इससे वह हमको हमारेपन से दूर ले जाती है। तब हम देखते हैं कि वे इच्छाएँ हमारी नहीं, बल्कि हम उनके हैं। ऐसे वह हम पर सवारी गाँठती और क्योकि उन्हे कहीं-न-कहीं तो निराश होना ही है इससे हमे क्षत-विक्षत कर छोडती है।

सच्ची मुक्ति इच्छा की मुक्ति नहीं, बल्कि इच्छा से मुक्ति है। निष्काम और अनासक्त पुरुष ही मुक्त-पुरुष है। वह तृप्त-काम है, क्योंकि जो इस समस्त कर्म-संकुल जगच्चक्र का आधारभूत प्राणकेन्द्र आत्मा है, वह उसमें तन्निष्ठ और तद्‌गत बनता है।

मैं अर्थ का विरोधी नही। मै स्वार्थ का भी विरोधी नहीं। मैं सब के अर्थ की पूर्ति चाहता हूँ। उसका नाम परमार्थ है। अर्थ हमारा छोटा क्यो है? वह क्यो न इतना बडा बनता जावे कि सब उसमें समा जायँ? वह सबसे अविरोधी हो। सच पूछिए तो गहरा स्वार्थ ऐसा ही होता है। परमार्थ और स्वार्थ में यदि विरोध है तो क्या यही न मानना चाहिए कि अपने स्वार्थ के बारे में हम अदूरदर्शी हैं? अपने ही 'स्व' को और स्वार्थ को हम नहीं जानते हैं।

पच्छिम से आई विचारधारा आर्थिक है। पच्छिम से और अर्थ न

लें तो वहाँ भी सन्त है, साधु हैं, सद्विचारक है। और आर्थिक विचार-धारा पूर्व मे भी वैसी ही फैल रही है। मेरी समझ मे नही आता कि केवल अर्थ ही क्यो जीवन का माप-दण्ड हो? परमार्थ क्यो न उसकी जगह ले? अर्थ तो परमार्थ का एक अंश ही है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टिकोण आर्थिक का समावेश करके ही स्वयं सफल हो सकता है।

'समाजवाद' शब्द अब सब का परिचित है, लेकिन उसमे भी मनुष्य को आर्थिक सन्दर्भ मे लेकर सन्तोष क्यो मान लेना चाहिए? मनुष्य का अर्थ जैसे समाज मे देखा जाता है, वैसे ही अर्थ को भी परमार्थ मे देखने का प्रयास राजनैतिक विचारक क्यो न करे? तब उनकी तृप्ति सामाजिक वाद मे न होगी, वे सामाजिक धर्म को ही चाहेगे। मुझे भी समाज के वाद यानी समाज की बात से सन्तोष नहीं होता। लगता है कि बात से आगे काम भी समाज का ही होना चाहिए। इस नीति को समाजवाद से आगे समाज-धर्म की ही नीति कहना होगा।

अर्थ का विचार करें। जैन व्यापारियो की जाति है और धनाढ्यता में पहले नहीं तो दूसरे नम्बर पर है। इससे अर्थ कि असलियत आप पर खुली ही है। सिक्का ख़ुद खाया या पहना नहीं जाता। वह सीधे किसी काम में नही आता; परन्तु उसमे ताकत है कि वह चीज़ो को जुटा दे। पदार्थों के विनिमय में सुभीता लाने के लिए वह उपजा। उस धन की बात करें, जो जीवन के लिए अनिवार्य है तो धनत्व सिक्के में नहीं चीज़ में है। अब वितरण और विनिमय ऐसा कुछ विषम हो गया है कि सिक्का स्वयं धन बनता जा रहा है। नतीजा यह कि जो अपनी मेहनत से मनो नाज उगाता है, वही मुट्ठी-भर अन्न को तरस सकता है।

हम जो सम्पत्ति का उपार्जन करते है, वह सम्पत्ति का बाँट-बटाव ही है। उस सम्पत्ति में कोई बढ़वारी हम से नहीं होती। लक्ष्मी इस जेब से उस जेब मे पहुँचती रहती है। अपनी निज की दृष्टि से नहीं, समूचे समाज की दृष्टि से देखें तो इस लाखो-करोडों के धनोपार्जन मे

क्या एक पैसे का भी सच्चा उपार्जन हम करते हैं ? व्यापारी वस्तुओं को इधर-से-उधर करता है। काम यह जरूरी है, लेकिन क्या सचमुच वह वस्तुओं को बनाता, बढाता या उगाता है ? जब तक उसका श्रम उत्पादक न हो तब तक उसका उपार्जन शुद्ध पारमार्थिक कैसे कहा जाय ? और हम देख ही चुके कि पारमार्थिक से अनुकूल होकर ही अर्थ मे अर्थता है, अन्यथा वह अनर्थ भी हो सकता है।

एक दूसरी बात की ओर भी मै ध्यान दिलाऊँ। मुद्रा में यदि शक्ति है तो किसके बल पर ? रुपये में क्या सचमुच सोलह आने का मूल्य है ? आप जानते है कि ऐसा नही है। उस शक्ति का स्रोत सरकार है। तभी तो हर सिक्के पर उसकी मुहर और बडे नोटो पर अफ़सर के दस्तख़त होते हैं। यह सरकार किस पर टिकी है ? उसकी शक्ति क्या फ़ौज-पुलिस और इनकी सहायता और संरक्षण मे रहने वाले कानून और कचहरी ही नहीं है ? फ़ौज और पुलिस के बल को क्या आप अहिसा कहेगे ? इस तरह जाने-अनजाने सिक्को के रूप में या सिक्को के बल पर किया गया द्रव्योपार्जन इस सरकारी हिसा में सहभागी होता ही है।

राजनीति से मुझे सरोकार नहीं। अधिकांश वह प्रपंच का खेल है, लेकिन मुझको ऐसा मालूम होता है कि अहिंसा की बुनियाद उत्पादक शारीरिक श्रम होना ही चाहिए, अन्यथा वह अहिसा तेजस्वी न रहकर दया की तरह मुलायम और निस्तेज रह जायगी।

धर्म हमको प्रिय है, किन्तु हमे अपनी सम्पत्ति भी प्रिय होती है। कहीं ऐसा तो नही है कि सम्पत्ति के रूप मे ही हम अपने धर्म को प्यार करते हैं। तिजोरी खोलकर अपने हीरे, पन्ने और सोने-रूपे के आभूषण देखकर गद्गद हो सकते है कि अहा ! क्या सुन्दर हमारा यह कण्ठा है, या हमारा यह हार है ! इसी तरह अपने ग्रन्थो मे झाँककर हम परम आनन्द पा सकते है कि अहा ! कैसा मनोहर हमारा जैन-धर्म है ! किन्तु धर्म ऐसी चीज़ नहीं है जो आपका स्वत्व बन जाय। वह तो ऐसी

गांधी-नीति

गांधीवाद पर शुरू में ही मुझे कहना होगा कि मेरे लेखे वह शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद भी है। वाद का काम है प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करना और इस तरह अपने को चलाना। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नही होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखा-बद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप मे देखते हैं। सत्य के साक्षात् की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आँकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तोलने के लिए बाट कहाँ है? कालान्तर (Perspective) कहाँ है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और प्रसिद्ध हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज़ से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रो में वह एक-सा व्यापक है। वह

चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी सकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खण्ड नहीं है। वह सहज और स्वभावरूप है। उसमे प्रतिभा की आभा नही है, क्योकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश मे देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुन्जी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं हैं। वहाँ सब दो एक है।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादो के बीच मे रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी मे न घिरकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अमोघ इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रतिशत आस्तिकता मे से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते है, होता है—क्योकि जो होने वाला है, उसके अतिरिक्त चाह उनमें नही है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति, इस आस्तिकता के आधार को तोडकर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह

एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है। मानो वह दावपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह दावपन, यह कार्य-कौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे ज़ोर से एक ओर अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाज-नीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्य-ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस सहानुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्त्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने-आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कमन्दोलन भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा

आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप मे तोड़ना-बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व मिलता है अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नही दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो पहलू आचरणीय रूप मे सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य मे तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार मे तो मुझ-जैसे कोटि-कोटि आदमी अथवा अन्य जीवधारी भी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनक वर्ग हैं। ईश्वर मे आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? इस अनेक मे भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों मे भी कुछ मेरे लिए ज़हर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मै कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मै उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता। किसी की बुराई नहीं चाह सकता। किसी को झूठा नहीं कह सकता। घमण्ड नहीं कर सकता। आदि कर्त्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते है।

लेकिन कर्त्तव्य कुछ आ जाय—तर्क सुझायेगा कि—यथार्थ भी तो मैं देखूँ। आँख सब ओर से मूँदी नहीं जा सकती। वह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुत सूक्ष्म जीवों को असुविधा नहीं होती, उनका नाश नहीं होता? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ? लेकिन आहार में कब हिंसा नहीं है? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे कि कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूट कर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से साफ सार तत्व को पहचान लेगा कि जीव-नाश अनिवार्य है। जीवन एक युद्ध है और उसमें बल की ही विजय है। वह बल जिस पद्धति से विजयी होता, यानी जीवन-गति पाता है, उसका नाम है हिंसा। मज़बूत के तले सदा निर्बल दबता आया है, और इसी तरह विकास होता आया है।

मेरे खयाल मे श्रद्धा के अभाव मे तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है, रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है, और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश मे हर काल मे कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरु-क्षेत्र मे मैं क्या करूँ? किसको तजूँ, किसको वरूँ? अनिष्ट को कैसे हराऊँ? अनिष्ट क्या है, क्या वह अमुक अथवा अमुक नामधारी है? वही है, या कि वह कुछ मेरे भीतर है।

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, दुश्मन को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चलने का बढ़ावा देती है। दूसरी, जो स्वयं

अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमे विकार के कारण आ गई हुई बुराई को दूर करना चाहती है। ऐसा वह आत्म-संस्कार द्वारा करती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। उग्र श्रद्धा के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधीजी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा मे बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोडना नही है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट ही जाय, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड जाता है और इस तरह शत्रुओ की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लडना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पलभर के लिए भी यह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन का और मौत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधार-शिला प्राप्त हुईं:—

(१) ध्येय : सत्य।

क्योंकि ध्येय और कुछ हो नही सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयं है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ आस्था से ग्रहण करो तो वही परमेश्वर।

(२) धर्मः अहिंसा।

क्योंकि इस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है

वह अहिंसा ही है।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक चित्तत्व को स्वीकार की परिभाषा मे कहना हो नही पाता, नकार की परिभाषा ही हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉजिटिव संज्ञा ठीक नहीं ढक पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नही है, वह तो उसका बाह्य रूप भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉजिटिव) शक्ति क्या है? फिर भी पारमार्थिक और लौकिक प्रेम मे अन्तर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निशेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय पदार्थ नही है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा मे भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। यहाँ कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनो - सत्य-अहिंसा-के सहारे साधारण भाषा मे लोक-कर्म के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश नही प्राप्त होता। सत्य को मन मे धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया। लेकिन अब करना क्या होगा? तो उसके लिए है:

(३) कर्म : सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर तो बढते रहना है। इसी मे गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी मे कर्तव्य यानी करने की बात आ जाती है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना मे सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहाँ विनय भाव नहीं है वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। अविनय यानी हिंसा हो वहाँ सत्याग्रह शब्द

का व्यवहार है तो जान अथवा अजान मे छल है। व्यक्ति सदा अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्तःकरण मे प्राप्त होकर जाग उठी है, उस पर डटी रहने वाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह। किन्तु उस आग्रह मे सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुँचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल मे भी वहाँ अविनय भाव नही हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जब कि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही है। फिर भी कह सकते है कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्ही विशेष परिस्थितियो के बीच जन्म पाता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सँकरा प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसको करके मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

इस भांति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ण-चित्र तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थजन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं

लपकता और परिणाम व्यक्ति-विक्षोभ और विग्रह पैदा करने मे नही लग जाता। महत्वकांक्षा की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानो अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पडता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति मे वह भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनो की जड में मुख्यता से यही आपाधापी और बढा-बढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective facts) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का सघटन क्या हो? आवश्यकता और अधिकार का, उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूँजी कैसे निपटें? इत्यादि।

तो प्रश्न-कर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायँगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घेर लेने और हतबुद्धि होने की आवश्यकता नहीं। फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि में ही हो जाने वाला नहीं है। सब सवालो का हल बताने वाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं देगी। इससे विचार-धाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न है उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निपटते जायँगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त मे मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फ़रेब था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं का-वहीं

छोड़ गया है। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने आप में ज़रूरत नहीं है। उन में जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धि-क्रीडा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है वह है 'स्वदेशी'।

'स्वदेशी' द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर माँगी जाती है। इस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगों को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ौसीपन पनपे। पास-पड़ोसपन (Neighbourliness) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है, भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर परिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ौसी से टूटूँ नहीं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाज-नीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तत्त्व पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची जो पड़ौसी के प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रखे तो बड़े पैमाने पर चलने वाला यान्त्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल

कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों मे बँटने लगता है। वे दोनों एक दूसरे को गरज़ की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते है। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। मिल-मालिक मज़दूरो की झोपडियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है, जिससे खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मज़दूरों की आँख मे मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पड़ौसपन के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Materialistic) नीतियाँ अन्ततः यही पहुँचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त मे से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमे मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमे उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढने और फूलने की गुंजाइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढेगा और अनुत्पादक चतुराई का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास मिले-जुले रहने के कारण समाज मे वैषम्य न होगा और शोषण-वृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भांति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य निषेध और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तःशुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तो को मिलने वाली गांधी-नीति के स्वदेशी सिद्धान्त से स्वयमेव प्राप्त होती है। यह शक्ति संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct action) द्वारा राजनैतिक विधान मे परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आ जाय तो भले आ जाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गडबड उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी' पूँजी-वाद को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State Capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होगे, एक-तन्त्रीय शासन। यांत्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आने वाला है। यानी ऐसा समाजवाद एक-तन्त्रवाद (फासिज़्म) आदि को बुलाकर ही रहेगा। गांधी-नीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संक्षेप मे गांधी-नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय समस्त से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज और विश्व के साथ सामन्जस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जावे उतना अपनी और संसार की बन्धन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू हैं। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्म-मयी और शान्ति-लक्षी ही होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का स्थिर धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफ़ी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक क़दम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से कहाँ भिन्न हो सकता है। इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब मे धर्म का श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा। अन्यथा नहीं। सबके मन में एक जोत है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ मे जीवन को लगाए चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा ठीक होगा। राह का अन्त नाप राही, तुझे तो चलना है।

मूल्यांकन

हम विशेषणों द्वारा वस्तुओं को एक-दूसरे से विशिष्ट करके पहचानने के आदी हैं। यह अच्छा है, यह बुरा है; यह छोटा है, वह बड़ा है। इस तरह उनमें निस्बत पैदा करके हमारी समझ चला करती है। हम चीज़ों को कीमतें देते हैं, किसी को कम, किसी को ज्यादा। किसी को एक तरह की कीमत, दूसरी को दूसरे तरह की क़ीमत। उन्हीं कीमतों को ओढ़कर वे चीज़ें हमारे पहचानने मे और काम मे आती हैं।

लेकिन क़ीमतें हमारी दी हुई होती है न ? और हम स्थिर नहीं है, गतिशील है। इससे क़ीमतें भी अचल नहीं है। उनमे अन्तर आता रहता है।

उन क़ीमतों मे तरतमता रखने के लिए कुछ इकाई की ज़रूरत हुआ करती है। एक पैमाना चाहिए, जिस पर छोटा-छोटा और बड़ा-बड़ा उतर सके। वैसा कोई दोनों पर लागू होने वाला पैमाना न हो तो हमारे विशेषण व्यर्थ हो जायँ और उनसे हमे कुछ भी सहायता न मिले।

लेकिन विशेषताएँ तरह-तरह की है। कपड़े को जैसे हम गज़ से नापते हैं, दूध को वैसे नहीं नाप सकते। उसे तौलना होता है। और दुःख-सुख को हम न सेर-छटाँको और न गज़-इंच मे नाप सकते हैं। उसका निर्णय और तरीक़े से होता है,

इस तरह भिन्न वस्तुओं को एक-दूसरे की अपेक्षा में देखने और समझने के भिन्न मान हमने कायम किए हैं। दूध को कपडे के मुकाबिले में देखने की आवश्यकता साधारणतः हमे नहीं होती। उनकी अतः विविध श्रेणियाँ हम मान लेते हैं।

फिर भी जब ऐसी आवश्यकता उपस्थित हो जाती है, तो दोनों को एक तल पर लाने के लिए हमने पैसे का मान बना लिया है। सेर भर दूध दो आने का है और उधर दो आने मे आधा गज़ कपडा आता है, तो हम मान लेते हैं कि दोनों बराबर हैं। न दूध ज्यादा है, न कपडा ज्यादा है।

यह प्रयोग व्यवहार मे बहुत काम आता है। व्यवहार नाम अदल-बदल का है। देन-लेन के आधार पर दुनिया चलती है। और वस्तुओं मे तरतमता स्थापित करने के लिए हम कोई सामान्य नियम या उपादान खोज लेते हैं तो उससे व्यवहार मे सुगमता हो जाती है। ऐसे सौदा सहज बनता है और झंझट कम होती है।

ध्यान रहे कि जो नियम वस्तुओ को अमुक और भिन्न मूल्य प्रदान करता है, वह अपने तल पर उनका एकीकरण भी करता है। पैसे के आगे क़ीमत के लिहाज़ से दूध का दूधपन और कपडे का कपड़ापन गौण हो आता है; दोनो एक तल पर आ जाते हैं और मुख्य प्रश्न यह हो रहता है कि पैसे के माप मे कौन कम-अधिक है।

पर व्यवहार का काम जितने से चल जाता है, विज्ञान का काम उतने से नहीं चलता। आज का विज्ञान कल के व्यवहार का आधार है। इसलिए विज्ञान व्यवहार के प्रचलित मूल्यो से आगे जाता है। उसे और भी गहरे एकीकरण की आवश्यकता है। वह तात्कालिक व्यवहार से आगे देखने को बाध्य है, क्योंकि सौदा नहीं, दृष्टि की स्पष्टता और विस्तृति उसका लक्ष्य है। इसलिए विज्ञान व्यवहारिक मूल्यों को अलग-अलग थामने वाले उस मूल नियम को भी पाना चाहता है जो सब अनेकता को एक में ढाल दे।

सोना सोना है, पीतल पीतल है। लेकिन विज्ञान यह मानकर चुप नहीं है। उसे तो सोने के सोनेपन और पीतल के पीतलपन मे राग द्वेष नही है। उसे कोई उनके तात्कालिक मूल्य-भेद मे आसक्ति नही है। इसलिए सोना और पीतल दोनो उसकी निगाह मे एक-से है और उसकी लगन का लक्ष्य वह तत्त्व है जिसकी अपेक्षा में दोनो मे दो-पन नहीं रहता। सोने को वह अणु-परमाणु बनाकर देखेगा? जहाँ उसकी स्वर्णता नही टिक सकेगी, और पीतल को भी उसी अणुरूप मे वह देखेगा। अणु न पीतल है, न सोना है।

इससे आवश्यकता है कि हम व्यवहार मे जिन विशेषणो को लेकर काम चलाते है, उनकी असलियत समझने के लिए उस अविशेष्य को ध्यान में लाने की ओर बढें जो उन विशेषणों को थामता है। मूल्य-भेद को जानने के लिए उस अमूल्य को जानें जो मूल्यातीत होने के कारण ही सब मूल्यो को सम्भव बनाता है। इस विषय मे पदार्थ-विज्ञान की गति भी उसी दिशा मे है, जो मानव-ज्ञान की प्रगति की दिशा है। विज्ञान उस सूक्ष्म को चाहता है, जो पदार्थ के पदार्थत्व की इकाई है। मानवज्ञान भी उस इकाई की साधना मे लीन है, जो हमारी अनेकता के मूल मे है।

हम यहाँ उस निगाह से उन विशेषणो की छान-बीन करना चाहते हैं, जो मानव को मानव से अलग और विशिष्ट करने के काम मे आते हैं।

तरह-तरह के शब्दो से हम आदमियो मे भेद चीन्हते है। कुछ विशेषण उनमे सामाजिक है और परिस्थिति से सम्बन्ध रखते है : जैसे अमीर और ग़रीब, ब्राह्मण और शूद्र आदि ऐसे (सामाजिक) स्थिति-द्योतक शब्दों पर हमे इस समय नहीं अटकना है। भाव-वाचक विशेषणो से ही हमे प्रयोजन है।

आशय यह नही है कि सामाजिक का प्रभाव भावात्मक संज्ञाओ पर नहीं है। न-न, सो तो ख़ूब है। शूद्र वैसा होने के कारण ही बुरा कहा जाता है न, और ब्राह्मण उसी कारण पवित्र? और अमीर के सब दोष

गुण है और गरीब की सबने बुराई की है ! लेकिन वह तो विकृति है हम उधर से हटकर कुछ असंलग्न निगाह से देखने-समझने का प्रयास करना चाहते हैं।

हम कहते हैं कि यह बहुत नेक आदमी है, और वह बहुत बुरा आदमी है।

इसी तरह : अमुक पुरुष सभ्य है, दूसरा अशिष्ट है।

और : उस व्यक्ति मे शक्ति है, दूसरा पोच है, उसमे व्यक्तित्व नहीं है।

ऊपर ये तीन कोटि के विशेषण दिये गए। पर असल में वे साथ-साथ चलते नहीं दीखते। वे आपस में कभी, बल्कि अक्सर, आर-पार होकर काम करते प्रतीत होते हैं।

कहने मे आता है कि वह आदमी बडा भला है, कैसा गऊ है। लेकिन उसे ही गिनती के वक्त गिनती मे हम नहीं लाते। अवसर होने पर कहते हैं कि अँह, वह कोई आदमी-मे-आदमी है, बिचारा भला है ; लेकिन कुछ है नहीं। दूसरी ओर जिसे बुरा मानते हैं, मौक़ा पडने पर भले आदमी से भी अधिक उसका ख्याल हमे रखना होता है। कहते हैं कि वह शख्स है बदमाश; लेकिन भाई है ज़बरदस्त। उसे शुमार में लाये बिना हम नही रह सकते।

अच्छा—और—बुरा और दीन—और—समर्थ, विशेषणो की ये दो जोडियाँ आपस मे आर-पार हो जाती हैं, परस्परापेक्षा उन्हे नहीं है। बुरा आदमी समर्थ हो सकता है और भला आदमी दीन। एक लिहाज से यदि भला आदमी स्पृहणीय समझा जाता है, ख़ास तौर से बात या विचार करते वक्त; तब दूसरी दृष्टि से समर्थ आदमी ही गणनीय होता है, ख़ास तौर से जब किसी काम के मामले की बात हो।

लेकिन संज्ञाएँ है जो इन नित्य-प्रति के विशेषणों को उल्लंघन करके इतिहास में टिकती हैं। वह कुछ भिन्न हैं। ऐतिहासिक पुरुषों के मूल्यांकन के लिए रोज़ के विशेषण काम नहीं आते। इतिहास के विशिष्ट

पुरुषों को कहना होता है : महापुरुष।

महापुरुष भला हो सकता है और बुरा भी हो सकता है; शिष्ट हो सकता है और असभ्य भी हो सकता है; चतुर हो सकता है और अकुशल भी हो सकता है। असलमें वह इन विशेषणो से ढका रहने योग्य नहीं होता। वह स्वयं होता है और इन विशेषणों को अपनी चिन्ता रखने की छुट्टी दिये रहता है।

हम यहाँ उसी तत्त्व को समझना चाहते हैं, जो विशेषणो के द्वित्व से गहरे मे है, उनसे अतीत है, और जो बदलते हुए हाट-बाट के मूल्यो के बीच स्थायी होकर विराजमान है। जो सापेक्ष्य नहीं है और बस स्वयंभव होकर सम्भव है।

बुरे मनुष्य को जानने के लिए हमे अच्छे को पाने की ज़रूरत है। कोई बुराई अपने मे नही टिक सकती। बुराई प्रतिक्रिया है। इसलिए ऐसे द्वन्द्वात्मक विशेषण किसी कदर कृत्रिम विशेषण हैं। उनमे रुचि और अरुचि प्रकट होती है। वे वैज्ञानिक नही हैं। और यथार्थता को पकडने मे मददगार बहुत कम हो सकते है।

नीम का पेड बुरा है, क्योंकि नीम का पत्ता हमें कडवा लगता है। वही नीम का पेड अच्छा है, क्योंकि अमुक वैद्य ने बता दिया है कि उसके पत्ते पित्त को फ़ायदा पहुँचाएँगे। तो यह प्रयोजनाश्रित विशेषण विशेष दूर हमें न पहुँचा सकेंगे। व्यवहार में वे जितने उपयोगी हो सकते हैं, व्यवहार से अलग होकर उनका उपयोग उतना ही मन्द हो जाता है।

इसलिए यह तो मानकर चलना चाहिए कि अच्छा-बुरा कोई नहीं है। क्योंकि हमे साम्य-पूर्वक सबके प्रति प्रीति की वृत्ति रखनी है। मानव-सत्य के सम्बन्ध में इसी वृत्ति-पूर्वक चलने से हम कुछ पा सकेंगे। अन्यथा हम कहीं भी नहीं पहुँच सकेंगे, शब्द-व्यूह मे निरा चकराना ही हाथ रह जायगा।

यहाँ आसानी के लिए इतिहास की जगह (क्योंकि इतिहास परोक्ष

है) पास के उद्यान को लें लीजिए।

उस उद्यान मे विशाल एक बड का पेड है, जिसमें ऊँचाई विशेष नहीं है, पर विस्तार ख़ूब है। वह ऐसा घना है ऐसा छायादार, कि शत-सहस्र जन उसके तले विश्राम पा सकते हैं। पुराना ख़ूब, जटाएँ बहुत; और तना उसका इतना बृहदाकार है कि क्या पूछिए।

उसे अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, जो जिसे भाये कह ले। पर हमें और बात कहनी है। वह अच्छी-बुरी नहीं है, सुन्दर-असुन्दर नहीं है। वह यह है कि पेड जितना और जो हमारी आँखों को दीखता है, वह उतना और वही नहीं है। उसकी समूची इयत्ता मन में बैठाने के लिए कुछ उसको भी ध्यान मे लेना होगा; जो स्वयं तो अदृश्य है, फिर भी जो उसके दृश्य-भाग को थामे हुए है। यानी उसकी जडों को भी समझना और हिसाब मे लेना होगा।

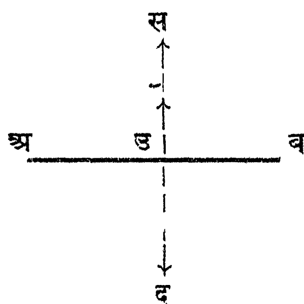
मैं कहना चाहता हूँ कि जिसने अपने भीतर के जितने अधिक भाग को बाहर जितने अधिक अंश से मिला दिया है, और ऐसा ही मेल जिसके द्वारा जितना अधिक व्यक्त हुआ है, वह उतना ही मननीय और माननीय है।

पेड का बीज पड़ा। धरती के संयोग से रस पीकर उसने अपने दलों को फटने दिया। किल्ला उगा। ऊपर की हवा उसने ली और धूप सेंकी। नीचे धरती में से भी उसने अपना पोषण खींचा। किल्ला बढ़-कर पौधा हुआ। पौधा दरख्त। वह बीज इस बीच कहाँ गया ? पर वह तो कब का मुक्त हो चुका। किल्ला जब फूट चला कि बीज ने तभी कृता-र्थता पा ली। जिस धरती मे मुँह गाडकर उसने वास किया था, वहाँ अब दूर-दूर तक गहरी उसके वंश की जडें फैल गई हैं। जितनी गहरी और घनी भीतर जडें हैं, उतना ही विशद और विस्तृत बाहर फैलता हुआ उसका आकार है। अतः वृक्ष की सम्पूर्णता जडो के अभाव मे नहीं समझ में आयगी।

अमुक वृक्ष बड़ा है, क्योंकि धरती मे चोटी तक वह इतना ऊँचा

नपता है; यह कथन अशुद्ध नही है। पर यह कथन काफ़ी प्रयोजन-परिमित और स्थूल है। कही ऐसा न समझ लिया जाय कि कोई एक-दम धरती से उठकर उतना ऊँचा खड़ा हो सकेगा या कि ऊँचाई इस दीखने वाली धरती से ही आरम्भ होती है। नहीं, नहीं। दीखने को जड़े नहीं दीखती, लेकिन ऊँचे दीखने के लिए नीचे की जड़े बहुत आवश्यक है।

इस नीचे की निचाई और ऊपर की ऊँचाई को जो अपने-पन से एक मे मिलाये रखता है, वह उतना ही महत्त्व सम्पादन करता है। 'ऊपर'-नीचे' तो हमारी संज्ञाएँ मात्र हैं। पाताल मे समाये दरख़्त की जड का छोर और उसके चरम शीर्ष का ओर, असल में तो दोनों एक ही हैं। वृक्ष की जड आस-पास से वह रस खींचकर ऊपर भेज देती है और उस वृक्ष का मुकुट मौर अतरंग से उसी ऊर्ध्वगामी रस का कृतज्ञ है। और सूर्य-दर्शन पर अपने हर्ष का सम्वाद नीचे पहुँचाता रहता है।



साथ के चित्र मे 'अ-ब' रेखा से ऊपर का भाग दीखता है और उतने ही को हम वृक्ष कहते है। लेकिन स्पष्ट है कि स-उ रेखा की अपनी कोई सत्ता नहीं है। स-द यह तमाम एक रीढ़ है, एक सत्ता है। और उ बिन्दु से व्यक्त और अव्यक्त का सन्धि-बिन्दु ही है। वह स्वयं मे कोई आदि अथवा अन्त नहीं है। मात्र अ उ ब हमारे व्यवहार का धरातल है। इस दृष्टि से उ स को हम वृक्ष की ऊँचाई कहे तो कह

सकते हैं। अन्यथा तो उ बिन्दु यथार्थता मे कहीं है नहीं। एक अनिदिष्ट और अनिवार्य रस-प्रवाह के द्वारा स और द् आपस मे अभिन्न भाव से एक है। जो स की प्रकृति है, वही द् की प्रकृति है, द् की अनुभूति स को अनुभूति होती है। उ बिन्दु स द् के मध्य विभाजक बिन्दु किसी भी भाँति नही है। स द् की एकता अविभक्त और अखण्ड है।

इससे यह कहा जा सकता है कि उ स की ऊँचाई को उ द् की निचाई सँभाल रही है। नहीं तो, उ द् के अभाव मे उ स का कोई अर्थ ही नही रहता। निचाई से टूटकर ऊँचाई कोई चीज़ नहीं होती।

असल में स और द् बिन्दुओ के मध्य जितनी जीवित और घनिष्ठ एकता है, उतना ही उस दरख्त को मजबूत कहना चाहिए।

स्पष्ट है कि वर्द्धनशील वृक्ष मे द् और स बिन्दु स्थायी नही हैं। द् और गहरा जायगा, स और ऊँचा चढ़ेगा, और दोनो दूर हटते रहकर एक और अभिन्न बने रहेगे। इसी के परिणाम से वृक्ष बडे-से-बडा होता जायगा। वह उस समय तक बढता जायगा, जहाँ तक कि स और द में अभेद सम्बन्ध कायम रह सकेगा। जिस हद से आगे बढ़ने पर स और द् की परस्परोन्मुखता और एकता टिक नही सकेगी, वृक्ष के विकास की भी वही हद होगी।

मनुष्य के सम्बन्ध मे भी यही समझना चाहिए। जो हमारी आँखों के सम्मुख ऊँचा उठा हुआ मालूम होता है, उसका अपने अन्दर उतना ही गहरा होना लाज़मी है। गहराई में मज़बूती है, तो उसका बडप्पन भी स्थायी है। नहीं तो किसी प्रकार का बडप्पन अव्वल तो सम्भव नहीं है; हो भी, तो वह कृत्रिम है, टिकाऊ नहीं है।

मानवी महत्ता इसलिए वह व्याप्तिशील एकता है, जो व्यक्ति अपने व्यक्त और अव्यक्त में साधना द्वारा सम्भव बनाता है।

अ ब से दक्षिण की ओर, अव्यक्त हैं; उत्तर मे व्यक्त। लेकिन व्यक्ताव्यक्त का भेद हमारी परिमिति क कारण है। स उ, उ द् यथार्थ मे एक हैं। इससे हर बडे आदमी के लिए, अनिवार्य है कि वह ऊँचे

चढ़ने के लिए अपने अन्दर की निचाई का त्याग न करे (जो कि हो भी नहीं सकता) बल्कि उसको ऊँचाई के साथ एक-धारागत करे।

इसी बात को दूसरी भाषा मे सुबोध करके समझें!

हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाएँ है, तरह-तरह की वृत्तियाँ हैं। उनको हमने 'सु' और 'कु' मे बाँटा है। कुछ गुण हमारे लिए दुर्गुण है, कुछ अन्य स्पृहणीय गुण हैं। क्रोध बुरा है, ब्रह्मचर्य अच्छा है आदि।

'कु' को हम मिटाना चाहते हैं, 'सु' को सफल करना चाहते है। लेकिन जब तक 'सु' और 'कु' को एकान्त रूप मे परस्पर विलग और विरोधी समझा जायगा, तब तक अभीष्ट सिद्धि नही होगी। 'सु' और 'कु' विशेषणो द्वारा विशेष्य जो तत्त्व है, वह तो एक ही है। विशेषण प्रयोग-भेद से है। चैतन्य चैतन्य है। जैसे विद्युत् विद्युत् है। दुष्प्रयोग से जैसे बिजली घातक हो सकती है, वैसे ही दुरुपयुक्त चेतन-शक्ति अपराध-मूलक हो जाती है। लेकिन पाप में अथवा पुण्य मे व्याप्त आदि-शक्ति तो एक ही है। वह स्वयं न पाप है, न पुण्य है।

मेरे खयाल में पाप और पुण्य के ओर और छोर में जो सम-भाव से एक-चित्-सत्ता प्रवाहित हो रही है, जो जितना उसके साथ सहज रूप से एकात्म होता है, वह उतना ही सार्थक सफल और विराट होता है।

व्यक्तित्व मे से खुरचकर और छीलकर तो कुछ निकाला नहीं जा सकता। कुचलकर कुछ मिटाया भी नहीं जा सकता। सत् असत् नही हो सकता। जो इसी प्रयास में लगे है, वे असाध्य की साधना के पीछे हैं। वे चेतन को जड बनाना चाहते है, जैसे कि यह सम्भव भी हो। जब हम जड समझे जाने वाले पदार्थों मे नित्यप्रति उस शक्ति का प्रादुर्भाव देख रहे हैं जो चित् है, अर्थात् जब जड कुछ रहता ही नहीं जा रहा है स्वयं चेतन-स्वरूप हो रहा है, तब कोई अपने को जड बना सकेगा, इसकी सम्भावना ही समाप्त हो जानी चाहिए।

इससे जो करना है वह यह, कि असत् को ही हम असत् जान लें। और असत् है द्वित्व। अगर हम समूचे व्यक्तित्व में एकता ले आएँ, तो इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। इसमें 'कु' स्वयंमेव 'सु' बन रहेगा।

जो हम में से बडा बना, जाने-अनजाने उसने-अपने भीतर वही एकता की साधना की। एक निष्ठा को उसने पकडा और अपने भीतर के सब गुणो का समर्पण उस निष्ठा के प्रति कर दिया।

जो अपने अंग काटता है, वह उस कारण कुछ हीन ही बनता है। विराट पुरुष, पूर्ण पुरुष, व्यक्तित्व के काट-छाँट के मार्ग से नहीं बना करता। ऐसे तो मानव महान् नहीं, बनावटी बन कर रह जाता है। उसमे कोगे निकल आते हैं और पूर्ण की अनिर्वचनीय सुघराई तो पास नहीं फटकने पाती।

कोयला अपने को खुरचकर और काटकर आग कभी बन सका है? अपने भीतर सुलग जगा ले तो उसकी समूची-की-समूची काली देह दमक कर सुर्ख हो आती है। है तो यही उपाय, नहीं तो कोयले के लिए अपने कालेपन से छुटकारे का कोई उपाय नही है। असल में तो उसकी यह समझ ही भूल है कि वह काला है। जब तक वह यह समझता है, कालिमा से उसका छुटकारा असम्भव है। पर वह यह क्यो नहीं जान ले कि वह कालापन ही उजलापन है, अगर बस कहीं आग की चिनगारी वह अपने भीतर बैठा ले!

इतिहास के मान्य पुरुष अगर ऊँचे थे, और बड़े थे, तो निश्चित रूप में इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने नीचे की निचाई को काटकर अलहदा कर दिया था। देह को काट-फेंककर कोई स्वर्ग के दर्शन नहीं कर सकता। उन लोगो ने भी कुछ अपने में से काटकर नहीं फेंक दिया। ऐसा करके ऊँचाई नही हाथ आ सकती, अपंगता ही गले पड सकती है। अव्यक्त को दबाकर व्यक्त उभरता नहीं है; बल्कि वह भी ऐसे निस्तेज बनता है। जो तेजोमय बन सके उन्होंने अपने निम्न को अपने

ही उच्च की सेवा मे नियोजित कर लिया, निम्न का उच्च के, और उच्च का निम्न के साथ सामन्जस्य साधा, और दोनों को मिलाकर एक कर लिया। उच्च को उच्चता के गर्व में बन्द न रहने दिया। और निम्न को निम्नता की जकड से उबारा और दोनो मे एक ही लक्ष की निष्ठा जगा दी। उस जाग से सब प्रोज्ज्वल हो गया। ऊँच-नीच न रहा, 'सु' और 'कु' भी न रहा। दहक मे दहककर सब ज्योतिर्मय हो चला।

मै यही कहना चाहता था कि जिसने जितने तीक्ष्ण विरोध को मेल में मिला दिया है, जिसने जीवन मे जितना व्यापक समन्वय साधा है, वह उतना ही महान् हो रहा है। प्रत्यक्ष को परोक्ष से, व्यवहार को अध्यात्म से और स्पष्ट को रहस्य से जितना मिलाकर जिसने देखा है, और दोनो को अपने जीवन मे जितना ओत-प्रोत कर लिया है, वह उतना ही इष्टोपलब्धि के निकट पहुँचा है। वह अपने मे आँख डालकर गहरा गया है। और इसीलिए जब वह आँख बाहर की ओर मुडी है तो वहाँ भी ग्रन्थियो की आवश्यकता को भेदती हुई दूर तक चली गई है। उसने भीतर एकता पाई है, इससे बाहर के जन्जाल को भी हटा पाया है। जहाँ गहराई नही, वहाँ ऊँचाई नहीं। और लौकिक सफलता के लिए भी रहस्य की अभिज्ञता चाहिए।

मनुष्यो मे मूल्य-विभाजन करने के लिए जो नियम तमाम इतिहास में काम देगा, जो कभी ओछा और पुराना नहीं पडेगा, वह यही एकता की परिभाषा-वाला नियम है। द्वित्व और द्वन्द्व द्वारा सम्भव बनने वाले विशेषण पर्याप्त न हो पाएँगे। वे विभक्त कर सकेंगे, संयुक्त नही, वे अनेकता में व्याप्त सम-सामान्य तत्त्व की एकता तक हमे नहीं पहुँचा सकेंगे। इससे कुछ दूर तक यदि वे हमे साधक होगे, तो उसके बाद वे ही बाधक हो रहेगे।

और वैसे विशेषण ओछे पड जाते हैं, तब हम कहते है कि अमुक पुरुष महापुरुष है। वह चतुर है, भला है, शिष्ट है, आदि पद जैसे उस व्यक्ति की महिमा को बहुत अधूरा भी प्रकट नहीं करते हैं। महा-

पुरुष अवतारी पुरुष अच्छे-भले नही होते, क्योंकि वे महान् होते हैं, अवतारी होते है। उनका महत्त्व द्वन्द्वज विशेषणो से ऊपर है।

महत्ता का इसलिए अर्थ है व्यापक एकता। महान् व्यक्ति की सत्ता सिमटी हुई नहीं होती। ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ चहुँ ओर वह फैली रहती है। वह अवैयक्तिक होती है। पर व्यापक होकर शिथिल नही, बल्कि अतिशय एकनिष्ठ और सुगठित होती है। उस व्यक्तित्व का निम्नतर स्तर भी किसी-न-किसी भाँति उसकी सर्वोच्च आकांक्षाओ में सहयोगी होता है और उसके स्वप्न व्यवहार से उच्छिन्न नही होते।

आवश्यकता है कि विचारो और आदर्शों के आज के मध्य हम उस प्राथमिक मूल्यांकन के नियम की प्रतिष्ठा करें, जो बहुलता को एकता तक ले आए। नहीं तो मतादर्शों (देवी-देवताओ) का ऐसा जमघट लगेगा कि पूजा भूल जायगी और विचार ही एक काम रह जायगा। जो निराकार और निर्गुण है, विविध वादों के बीच उस अद्वैत आदर्श को फिर याद करने की आवश्यकता है। नही तो उन-उन देवी-देवताओ के नामलेवाओ से घिरकर सत्य को चीन्हना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। सबके अपने-अपने देवता है। हरेक के देवता दूसरे से बढकर हैं। ऐसी हालत मे जिज्ञासु किसको लेने के लिए किसे छोडे ? और बचे तो बचकर किधर जाय ?

मै कहना चाहता हूँ कि जिज्ञासु को व्यापक एकता के बीज को हृदय में धारण कर लेना चाहिए। तब वह निर्भय है। उसके प्रकाश में और उसकी अपेक्षा मे विविध मतवादों के मध्य की विवाद जनित पेचीदगी उसे हल दिखाई देगी और उन सबको अपना-अपना मूल्य देने मे उसे कठिनाई उपस्थित नही होगी।

दुःख

भी ख़बर मिली है कि मित्र मर गए। अचानक दर्द हो आया और पाँच मिनट में दिल की धडकन बन्द हो गई। कल शाम हम मिल-हँस रहे थे। आज वह सदा के लिए लुप्त हो गए है। मैं अब दुखी न हूँ तो क्या हूँ ?

एक पडोसी की लॉटरी खुल आई। उन्होने सुना तो बेहद ख़ुश हुए। पर वह ख़ुशी हलकी पड रही है और उन्हे दुःख होता आता है कि पहला इनाम उनके नाम क्यो नहीं निकला।

पास के मकान वाले लाला को पार साल सट्टे मे पचास हज़ार बचे थे। इस साल दस हज़ार निकल गए। वह दुखी हैं।

उनकी स्त्री अनमनी रहती हैं और बीमार रहती है। पहली पत्नी आत्मघात कर गई। बडा लडका झिडकी खाकर और धमकी देकर अलग हो गया। उसे शराब की लत पडी और अब पागलखाने मे है।

इसी तरह लोग जेल मे, अस्पताल मे, दुनिया मे तडप रहे है और जी रहे है।

सो जग में दुःख की कमी नही। सभी दुखी हैं।

ऐसा मालूम होता है कि दुःख शर्त है। उसी शर्त के साथ जीवन मिलता है। जो है, वह दुखी भी है। धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र उस दुख को भूल मान कर उससे छुटकारे के प्रयत्न को पुरुषार्थ मानते

है। दुःख की प्रवृत्ति मोक्ष है। मोक्ष की संज्ञा ही हुई निर्वाण।

दुःख से छूटने के लिए नाना साधनाएँ बताई गई है। इतने मत, इतने मार्ग हैं। पन्थ अनेकानेक हैं। पर लक्ष्य में सब एक हैं। सबको दुःख के नाश और अक्षय सुख की खोज है।

उसी भाँति अनेक दर्शन दुःख की अनेक विधि मीमांसा करते हैं। उनको निदान की परिभाषाएँ भिन्न हो; पर इष्ट हरएक का अभिन्न है। सब बुद्धि को शान्त करना चाहते हैं। बुद्धि शंका, प्रश्न द्वारा दुःख उपजाती है। और वे सब तरह की शंका, सब तरह के प्रश्न उत्पन्न करके उनका कुछ-न-कुछ मुँह-बन्द जवाब दे देना चाहते हैं।

इनमे कौन ठीक है, कौन गलत है? स्पष्ट है कि लक्ष्य में सब ठीक है। और लक्ष्य के अतिरिक्त अपने में ही आग्रह रखने पर वे सभी ग़लत भी हो सकते हैं।

इस भाँति दुःख कर्म में से पैदा होता है, या दुःख कामना में से पैदा होता है, या दुःख निसर्ग से प्राप्त है, आदि-आदि मन्तव्य तभी अर्थकारी है, जब वे दुःख काटते भी हैं। दुःख नहीं काटते तो वे शब्द-भर हैं, उनमे सार नहीं। सार-भूत ज्ञान शाब्दिक नही होता, वह भावात्मक होता है। इसलिए दुःख को अनुभूति की अपेक्षा मे ही समझा और खोला जा सकता है। केवल तत्त्व-ज्ञान मे ही दुःख का समाधान नहीं है, क्योंकि न दुःख कोई (सत्) तत्त्व है और न ज्ञान मे दुःख का निवास ही है। दुःख बाहर नहीं, अन्दर है। और जिसकी तत्त्व बनाकर मीमांसा की जाती है, उसे अपने से बाहर अलग स्थापित करके देखना होता है। जिसे अपने से अलग हम जान सकते हैं, या फिर जिससे अपने को अलग जान सकते हैं, वह वस्तु दुःख तो रह ही नही जाती। अपने को और उसको अलग देख लेना भर ही दुःख की दुःखता को नष्ट कर देना है। इसलिए दुःख है, तो तात्त्विक रूप मे उसका निदान खोजना बस नही है। उसे काटने के लिए तत्त्व-चिन्तन से अधिक अमोघ उपाय की आवश्यकता है।

रोगों के मानसिक उपचार की पद्धति आजकल चल निकली है। वैसा उपचार घटनीय और घटित पहले भी था; पर अब उसे विधिवत् वैज्ञानिक रूप मिलता आता है। उस पद्धति का सार सिद्धान्त है कि रोग से अवगत हो जाना ही उस रोग से छुट्टी पा लेना है। आत्म-ज्ञान ही स्वस्थता है।

हमारे अन्दर चेतना मे कुछ गाँठें पड जाती है। वहाँ उलझ पैदा हो जाती है। उसका प्रकट फल व्याधि है। चेतना प्रवाहशील तत्त्व है। अगर उसमे पैदा हुई ग्रन्थियाँ खुल जायँ, रुकावटें हल हो जायँ, और उलझने सुलझ जायँ तो चेतना यथा-स्वभाव बह निकले और रोग दूर हो जाय।

गाँठे किसी दबाव के कारण होती है। हमारा अवचेतन स्तर चेतन मस्तिष्क के अनुकूल नही होता। मस्तिष्क के दबाव से उस स्तर मे कुछ कुण्ठा और विरोध पैदा हो जाता है। वैसा दबाव और प्रतिकूलता न रहे और अवचेतन स्तर अपने को व्यक्त कर सके, यानी उसे चेतन मे आने दिया जाय, तो ग्रन्थि खुल जाती है, कुण्ठा दूर हो जाती है और स्वास्थ्य लाभ होता है।

मनोविज्ञान आज प्रयोग द्वारा यह बतला रहा है। उस आधार पर व्यावहारिक रूप में रोगों का उपचार किया जा रहा है और उसमें जो सफलता मिली है, वह कम-अधिक अचूक समझी जाती है। मानसिक उपचार-शास्त्र अटकल की बात अब नहीं। वह विज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष है। फ्रायड साहब ने अपना जीवन लगाकर उसको वैज्ञानिक स्तर पर मज़बूती से ला खड़ा किया है।

और उसमें अविश्वसनीय कुछ भी नहीं है। शरीर, मन और मनातीत हमारी सूक्ष्म चेतना इनकी अलग-अलग तीन सत्ताएँ नही है। शरीर के रोग मे मन का हाथ होता है और 'आत्मा' भी अछूती नही होती। असल मे तो तीनो मे अविरोध है। अविरोध ही नहीं, अभेद तक है। लेकिन हमारे साथ अधिकांश यह अभेद सिद्ध नहीं है। हमारे

भीतर इनमे विरोध उपस्थित होता रहता है और संघर्ष होता है।

व्यक्तित्व के भीतर ऐसे विरोध का नाम ही दुःख है। जब व्यक्तित्व एक ओर एकत्रित और एकोन्मुख नही होता, उसमें द्विधा और द्वित्व होता है, तब दुःख और क्लेश उत्पन्न हो आता है। द्वन्द्व जितना तीव्र, दुःख उतना ही विषम। वह जितना फीका, दुःख भी उतना ही हलका!

इसके अतिरिक्त दुःख कुछ और नहीं है। हम जो कामना रखते हैं, तदनुकूल कर्म भी यदि करते है तो दुःख के बीच मे आने को अवकाश नहीं है। पर प्रेरणा कुछ हो और करे कुछ, तो दुमुँही वृत्ति के बीच मे दुःख आ ही रहेगा।

यहाँ बडी कठिनाई उपस्थित होती है। क्या इच्छा ख़त्म हो सकती है? अगर वर्तमान मे हम समाप्त नहीं है, भविष्य से भी हमारा नाता है, तो इच्छा का अभाव असम्भव है। इच्छा होगी और होगी। वह जीवन का लक्षण है। इच्छा नही तो जीवन क्या? और अगर इच्छा है तो यह स्पष्ट ही है कि वह कर्म से आगे चलेगी। जो है, उस पर हम समाप्त नही हैं। जो होना है, उधर भी हमें चलना है। जो होना है, वह फिर होना चाहिए। यानी वह हमारे द्वारा किया जाना चाहिए। इच्छा का सम्बन्ध भी उस 'चाहिए' से है। जो (होना) चाहिए, फिर उसके (करने के) लिए प्रयत्न भी चाहिए—यहीं से इच्छा के पीछे-पीछे या साथ-ही-साथ कर्म लगा हुआ है। जो है, उसमें अतृप्ति-बोध के कारण ही इच्छा का जन्म है। इसलिए यह भी असम्भव बनता है कि इच्छा तात्कालिक वास्तविकता से आगे न बढे। सम्भाव्य के प्रति उसमे दायित्व है, अतः वास्तव के प्रति असंतोष। इच्छा आदर्श का खिचाव है।

इच्छा है, और रहेगी। और इच्छामात्र का जन्म अपूर्णता अनुभूति मे से है, अर्थात् अभाव और अतृप्ति मे से है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्योकि व्यक्ति का ... यानी बिना इच्छा के सम्भव नहीं है, और इच्छा-मात्र कर्म से अ...

वह अनिवार्यता से अप्राप्त को चाहती है, इससे प्राप्त मे उसे प्रीति रह नही सकती। अतः दुःख अवश्यम्भावी ही है।

शायद यह ठोक हो। बहुत गहराई मे जाकर देखें तो यह ठीक है ही। जीवन का आधार दुःख है। उसकी सम्भावना भी दुःख ही है। लेकिन इतना मानने के बाद निराशा ही हाथ रह जाती हो, सो नही।

इच्छा और कर्म मे अन्तर तो अनिवार्य है। अन्तर न हो तो गति ही न हो। फिर कर्म की सम्भावना भी न रहे। अगर आँखे पैर से आगे न देखे तो पैर चलें किधर? आँखो से जो दूर तक देखा जाता है, और पाँव से जो कदम-कदम चला जाता है, उस पर झल्लाने की आवश्यकता नही है। वह कोई बुरी बात नहीं। आँखो से आगे तक न देखा जाय तो तेज़ चलने की सुध-बुध भी कभी न प्राप्त हो और रेल, मोटर, वायुयान की सूझ असम्भव हो जाय। इससे मुसीबत यह नही है कि इच्छा और कर्म मे अन्तर रहता है। मुसीबत तो तब है जब इच्छा और कर्म मे विरोध हो जाता है।

जो आदमी देखे सामने और चले पीठ की तरफ़, उसके संकट की कल्पना ही की जा सकती है। सच तो यह है कि चला पीठ की तरफ़ नही जाता और देखा भी सामने ही की ओर जाता है। इसके अतिरिक्त आदमी का वश ही नही। लेकिन मन की आँख का यह हाल नहीं है। वह आँख एकदम चारो ओर जाती है। भाषा की अपूर्णता का लाभ उठाकर कह सकते हैं कि मन अपने भी खिलाफ जा सकता है और शरीर कुछ-कुछ उसके खिलाफ़ भी जा सकता है। यही संक्लेश का कारण है।

अतएव दुःख मे छुटकारे का उपाय इच्छा अथवा कर्म से हठात् निवृत्ति पा लेना नहीं है। इच्छा और कर्म से निवृत्ति मिल नहीं सकती। उसको सम्भव मानना अपूर्णता को शाश्वतिक मानना है। अगर हमे सम्पूर्णता की ओर बढ़ना है, व्यक्ति से विराट् और जीवात्मा से परमात्मा होना है, तो इच्छा की आवश्यकता है और तदनुवर्ती कर्म की भी

आवश्यकता है। इच्छा अतृप्ति-जन्य है, और कर्म इच्छा-जन्य हैं। यह मानकर भी आँख मूँद लेने से एकाएक उनसे छुटकारा भी तो नहीं मिल जाता। उन्हें स्वीकार द्वारा ही जीता जा सकता है। अन्यथा तो दुःख नहीं मिटता, हम ही मिटते हैं और दुःख हम पर हावी हो आता है।

जैसे आँख को बन्द कर लेने और फिर चलने से इन्कार कर देने से कहीं भी पहुँचा नहीं जा सकता, वही फल इच्छा और कर्म को अस्वीकार करने से होनेवाला है। गति इससे खो रहेगी और अगति में ही सिद्धि मानने का भ्रम केवल हाथ रह जायगा। यह मुक्त होना नहीं, यह तो अपने में ही अपने को घेरकर जकड़ रहना है। ऐसे व्यक्ति विराट नहीं बनता, वह जड बनता है।

अतः दुःख-नाश के लिए जो करना होगा, वह यह है कि मन इच्छा-शून्य न हो; बल्कि वह आत्मनिष्ठ होकर इच्छावान् हो। और शरीर भी कर्महीन न हो, बल्कि वह मनोनुकूल होकर कर्म-मय हो। शरीर मन के वश मे हो, मन आत्मा मे दत्तचित्त हो, आत्मा परमात्मा की लगन मे लगी हो। इस भाव से शरीर भी उत्तरोत्तर चैतन्य होकर आत्मा-स्वरूप बनता जाता है। जहाँ व्यक्तित्व के तमाम भागों में सहज रूप से अनुकूलता व्याप्त हो जाय, जहाँ किसी का किसी पर दबाव अनुभव न हो और सामन्जस्य-पूर्ण हो, जहाँ सब परस्पर समर्पित हों और परमात्मा से विरह-व्याकुल व्यक्ति का अन्तरात्मा ही समूचे व्यक्तित्व का अधिष्ठाता हो, वहाँ बिछोह का दुःख भी लगन का सुख हो जाता है, वहाँ प्रत्येक प्रयत्न आनन्द को पूर्ण करता और उपलब्धि को निकट लाता है। जैसे सच्चे प्रेमी को विरह भी मधुर प्रतीत होता है, वैसे ही इस प्रयोग से दुःख भी सुख जैसा मालूम होता है। जीवन, जो आवश्यक रूप में दुःख-जन्य है, ऐसे व्यक्ति के लिए प्रसाद-रूप हो आता है। वह इस जीवन के लाभ को परमात्म-लाभ के लिए एक अवसर मानता है। और निरंतर प्रयत्न और साधना से अपने समूचे व्यक्तित्व को लगन की लौ-जैसा उज्ज्वल और ऊर्जस्व बना देता है। जैसे लौ

सदा ऊपर को जलती है और जलना ही उसका इष्ट है, वैसे ही वह व्यक्ति प्रकाश बना ऊपर को जलता ही रहता है। वह दुःख को इस भाँति सर्वार्पण भाव से स्वीकार करता है कि उससे चहुँ ओर सुख विकीर्ण होने लगता है।

व्यक्तित्व में ऐक्य साधन करना दुःख जीतना है। अनैक्य पैदा करना उस दुःख को बढाना है।

कल्पना को हम बे-लगाम कर देते हैं, तो वह हमे ऐसे स्वर्ग तक ले जाती है जो अतिशय मनोरम है। पर स्वर्ग का रास्ता मोक्ष को नही जाता। स्वर्ग मे अति ही अति है। वहाँ अभाव को मानो अति से चुप किया जाता है। पर विवेक का अति के साथ निभाव नही है। स्वर्ग मे विवेक को शांति नही। तब कल्पना भी वहाँ अकेली कैसे बस सकती है? कल्पना हमारा अंग जो है, हमसे छूटकर वह दूर-ही-दूर नही रह सकती। अतः ऐसी निरंकुश कल्पना स्वर्ग से लौटकर जब धरती पर आती है तो यहाँ की यथार्थता को देखकर उसकी सुध-बुध खो जाती है और वह क्षुब्ध हो रहती है। यथार्थ उसे नरक मालूम होता है। ऐसे वह कल्पना बिचारी स्वर्ग के विरोध में नरक और नरक के विरोध में स्वर्ग रचकर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ टकराती रहती है। स्वर्ग से टूटकर नरक मे गिरती है। नरक मे आँख मूँदकर स्वर्ग रचती है। ऐसी अवश कल्पना और उस कल्पना के पीछे चलनेवाली चाह दुःख को मिटा नही सकती। कुछ पल उसे भुला दे सके तो सके भी, पर अन्त में तो वह दुःख को बढाती ही है!

बुद्धि को जब वैसी कल्पना की बहक मे बहकने दिया जाता है तो परिणाम अनिष्ट होता है। बुद्धि में मालूम तो होता है जैसे वेग आ गया है; पर बुद्धि ऐसे कर्महीन ही बनती है। इस प्रकार गर्माई हुई बुद्धि दिमाग को चहकाती है और त्रास पैदा करती है। इस बुद्धि के बुद्धिवादी लोग आदर्श की रचना रचते और एकदम प्रतिकूल व्यवहार कर सकते हैं। उनके काल्पनिक और उनके यथार्थ में विरोध हो आता

है। वे मन से स्वर्ग और शरीर से नरक रचते है। और नरक जितना घोर होता है, स्वर्ग को उतनी ही अतिशयता से दिव्य होना पड़ता है। यह ढंग दुःख बढ़ाने का है। बुद्धिवाद, कल्पनावाद, हृदयवाद यह सब जिस अंश मे व्यक्तित्व में ऐक्य नहीं लाते, उसमे अनैक्य बढ़ाते हैं, उतने ही अंश में वे दुःख बढ़ाते है। वे कर्म मे और कल्पना में इतनी खाई डाल देते है कि एक का निषेध दूसरे की सम्भावना बनती है। कल्पना का विलास व्यक्ति को कर्म से दूर डाल देता है; अथवा कि कर्म का उत्ताप उसको कल्पना-हीन बना देता है। पर न कल्पना से आदमी की छुट्टी है, न कर्म से उसका छुटकारा है। इससे होता केवल यह है कि दोनों परस्पर विमुख होकर बन्धन और दुःख उपजाते हैं। मनुष्य न निरा मन है, न कोरा शरीर और जहाँ दोनों में परस्पर की उपेक्षा है, वहाँ असल में दोनो ही क्षीण होते है और आपस में दुःख ही बढ़ाते है, उसे मिटा नहीं सकते।

कल्पना भाव-राज्य की नायिका है। कर्म से व्यवहार बनता है। कल्पना-प्रधान साहित्य होता है। कर्म-प्रधान है राज-कारण। एक-दूसरे से विमुख होकर दोनो बन्धन-कारक होंगे। उनकी परस्पर सम्मुखता और एकता से ही दुःख कट सकता है। और उन दोनों की एकता होगी आत्मधर्म के नीचे। साहित्य निरंकुश नहीं हो सकता। और राजकारण अंकुशधारी हो इसमें और भी अनर्थ है। जैसे कर्म भावना के पीछे चलता है, वैसे राजकारण स्वभाव से ही साहित्यानुवर्त्ती होगा। साहित्य आज जो पहचानता है, राजकारण कल उसी को अपने हिसाब में उतारेगा। राजकारण की सत्ता तो और भी स्वच्छन्द नहीं है। पर दोनों ही वे आत्मवश चाहिएँ। आत्म-धर्म से स्वाधीन होकर जैसे कोई इच्छा हेय है और कर्म अनिष्ट है, वैसे ही मानव-धर्म के विरुद्ध होकर साहित्य और राजकारण अनिष्ट है। व्यक्ति का धर्म हैं अपने व्यक्तित्व में ऐक्य सम्पादन। मानव-जाति का धर्म है, मानव-जाति का ऐक्य-साधन। ऐक्य का नाम है सत्य। जो एक वही सत्। उस एकता की अनुभूति के

द्वारा प्रेरित कर्म की प्रकृति होगी अहिंसा। सत्य की अवस्था और अहिंसा के आचरण से ही दुःख कट सकता है। अन्यथा वह नहीं टल सकता, हाँ, बढ़ तो सकता ही है।

किस ओर ?

जीवन की शर्त गति है। जीवित प्राणी चले बिना रह नहीं सकता। हम सजीव हैं ? तो हम चलेंगे।

पर हम अनन्त के बीच एक बिन्दु के तुल्य है। हमारे सब ओर आकाश है, यानी अवकाश है। सभी ओर दिशाएँ खुली हैं। दिगन्त कही नही है। हमारी धारणा से बाहर यथार्थ में वह नहीं ही है।

ऐसी अपार अनन्तता के बीच होकर बिन्दु किधर चले ? गति सब ओर सम्भव है। लेकिन प्रश्न है कि और सबको छोडकर वह विशिष्ट गति कौन-सी है जो, हम चेतन और विवेकशील प्राणियों के लिये, प्रगति कहलायगी।

इसी प्रश्न को कुछ समझ कर देखना है।

हमारे ऐहिक अस्तित्व की स्थिति यह है कि जिस धरती पर हम रहते हैं वह गोल है। गोलाकार मे उसकी गति है। वह अपनी धुरी पर चहुँ ओर घूमती है और सूरज के चारो ओर भी घूमती है।

उस धरती पर रहते हुए हमने दिशाओ की कल्पना की है।

स्पष्ट है कि वे दिशाएँ हमारी है और सापेक्ष है। उस धरती पर का एक देश हमारे लिए पश्चिम मे है तो वही पूर्व में भी है। जिस बिन्दु पर भी हम हो, वहाँ से चल पड़ें और चलते-चले जायँ, फिर चाहे हमारी चलने की दिशा कोई हो, हम एक ही जगह पहुँचेंगे।

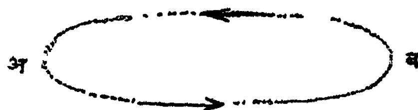
जब स्थिति यह है तो पश्चिम की ओर चलने और पूर्व की ओर चलने में एक को सही और दूसरे को ग़लत नही कहा जा सकता। लौकिक परिणाम की दृष्टि से पूर्व या पश्चिम की गति, दोनो, अन्तिम रूप मे, एक-सा ही फल लाने वाली हैं।

इस तरह गति के लिए दिशाएँ विविध है, और उनमे कोई सही या ग़लत नही है। सब ओर गति होगी और होती रहनी चाहिए।

इसका परिणाम यह निकला कि जिधर मै चलता हूँ, और जैसा मै करता हूँ, उससे प्रतिकूल चलने और विपरीत वर्तन करने वाले को मैं किसी तरह अपने से कम सही नहीं कह सकता और न मै उसके अनुकरण मे अपने चलन को बदल सकता हूँ।

विविध, यहाँ तक कि विरोधी दिशाओ मे गति होते रहने से जीवन का चित्र खिलता है। रेखाएँ आपस मे मिलें-बटें नही, और वे एक-दूसरे के समानान्तर ही चलने को बाध्य हो, तो उनसे कोई आकृति नही बन सकती। विरोधी दिशाओं मे चलना स्वीकार करके ही रेखाएँ क्षेत्र घेर सकतीं और आकृति-सौन्दर्य उपस्थित कर सकती है।

परिणामः जीवन-समृद्धि और सौन्दर्य के लिए गति की विविधता और स्वतन्त्रता आवश्यक है।



लेकिन रेखाओं की काट-फाँस ही ड्राइंग नहीं है। उनमे दिशा-विरोध होने पर भी एक भाव-संगति आवश्यक है। तभी आकृति सफल और सुन्दर हो सकती है। वहाँ जैसे विरोध स्वयं किसी अन्तर्गत ऐक्य के कारण सम्भव बनता हो। रेखाएँ तो एक-दूसरे से उलटी जा सकती हैं; लेकिन सब मिलाकर उन्हे एक भाव को मूर्त करना चाहिए। उस

भाव के ऐक्य की अपेक्षा वे सब एक हों। वे ही कला रेखाएँ हैं।

अर्थात् जीवन-गतियों मे वैविध्य और विरोध हो सकता है, लेकिन उन सब मे व्याप्त एक ऐक्यभाव अनिवार्य है। मतवाद बहुतेरे हो, आस्था-विश्वास, जाति-सम्प्रदाय, विचार आचार, गच्छ-आम्नाय, जितने चाहे हो; लेकिन उन सबके बीच ऐक्य का, यानी अहिंसा का, भाव जरूर चाहिए। वह भाव है तो उनका भेद ही सत्य है। वह नहीं तो उसमें जीवन का सत्य-सौन्दर्य भी नहीं। सौन्दर्य विरोध में सम्भव होता है; लेकिन विरोध ऐक्य-निष्ठ होना चाहिए।

जो जितने विरोधों को अपने जीवन मे एक बनाता है, वह उतना ही विराट है। जीवन की सुषमा को, उसकी कला को, उसके विज्ञान को, वह उतना ही प्रत्यक्ष करता है।

अपनी गति और दिशा को अर्थात् अपने व्यवहार और विचार को, इतना सच मानना कि शेष सबको झूठ ही मानना पडे और उनके प्रति असहिष्णुता हम में प्रकट हो जाय, यह भ्रान्ति का लक्षण है। प्रगति के विरोध मे यह मनोवृत्ति अगति की अर्थात् जीवन के विरोध मे मौत की परिचायक है। जहां अप्रेम और हिंसा है वहाँ प्रगति तो है ही नहीं, वहाँ गति से ही उकताहट है, क्योंकि जो गतिशील है, वह अपनी गति मे इतना दत्तचित्त है कि दूसरी दिशाओ मे चलने वाले के प्रति उसके मन मे हर्षाभिवादन ही हो सकता है। उनसे उलझने का अवकाश उसी को होगा, जो गति से अर्थात् जीवन से, मानो थक चला है और अब जिसे मौत चाहिए।

इस भाँति प्राणवान् पुरुष का सीधा लक्षण है अद्वेष अर्थात् अहिंसा। प्राणों मे कुछ ह्रास अनुभव होता है तभी द्वेष और हिंसा की वासना सम्भव हो सकती है।

वह धार्मिक नहीं जो दूसरो के धर्म के प्रति प्रेम नहीं रख सकता। वह श्रद्धावान् नही जो दूसरे की श्रद्धा को तोडना चाहता है। इसी से श्रद्धालु विनयी होगा और अहंकारी के पास किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं

पूर्व को ही जाते है, और सभी पश्चिम की ओर जाने से विमुख हैं, तो कल्पना की जा सकती है कि क्या परिणाम होगा। प्रकट है कि इस प्रकार जीवन असम्भव हो जायगा। हर एक आदमी अपने मे तब अकेला पड जायगा और जो जगत् नाना रंग-रूपो के पुष्पों से वाटिका के समान खिला-भरा लहलहाने के लिए हैं, वह जंगली वन की भाँति अशोभन बन जायगा।

गति की विभिन्नता शोभा का कारण है। कोई यह कहेगा, कोई वह। एक मध्यम सुर पर जिएगा तो दूसरे का जीवन तीव्र सुर पर कसा हो सकता है। नाना व्यक्तियों की भूमिका नाना होगी। सब अपनी-अपनी मतियों के अनुकूल चलेंगे। वही जीवन-संघर्ष की अनुपम लीला होगी। एक की सम्भावनाएँ दूसरे से जुदा है और प्रत्येक का जीवन अपने निजी अनुभव मे एकदम अद्वितीय है।

किन्तु स्पष्ट है कि विभिन्नता तभी इष्ट है जब अन्तर्गत किसी ऐक्य की चेतना व्याप्त हो। यानी जब उसे प्रेम की वेदना थामे हुए हो। द्वेष-विद्वेष, ईर्ष्या-मत्सर, आतंक-आरोप जीवन के ह्रास के कारण होते हैं। वे स्वास्थ्य के ह्रास से सम्भव बनते है और गति को क्षीण करते है। वे वार्धक्य के लक्षण हैं। जिसका केन्द्र और गति स्फूर्ति स्वस्थ है वह औरो के प्रति प्रीति-भाव ही रख सकता है। विकारी भाव गति-केन्द्र को अपने भीतर अनुभव करने की अक्षमता से पैदा होते है। इससे साफ है कि बाहरी दिखने वाली गति चाहे जिस दिशा मे भी हो, उसका निर्णय तो बाहरी परिस्थितियों की अपेक्षा में ही होगा। व्यक्ति की साधना यह होनी चाहिए कि वह अपने भीतर ही रहने वाले गति-केन्द्र के साथ अधिकाधिक तन्मय हो, यानी व्यक्ति किधर चले इसका उत्तर होगा, अपनी ओर। अर्थात् उसका धर्म है कि वह अपने ही केन्द्र मे पहुँचे, अपने साथ ही तादात्म्य पाये।

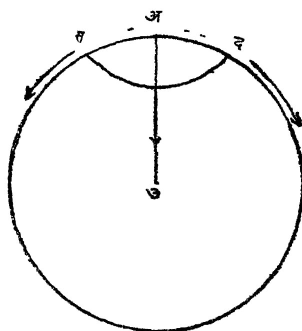
इस साधना के बिना बाहरी तमाम गति व्यर्थ से भिन्न नहीं है। जैसे कि निरुद्देश्य रेखाएँ एक चित्र के सौन्दर्य को नष्ट करती हैं और

उस चित्र के जीवन को प्रस्फुटित करने के बजाय म्लान करती है, वैसे ही आत्म-केन्द्र से टूटी हुई गति जगज्जीवन को असुन्दर और व्यक्ति-जीवन को श्रान्त बनाती है। वह गति ही नहीं है, भटकन है। एवं वैसा मौखर्य केवल ध्वनि है, साहित्य नहीं है।

अर्थात् व्यक्ति को यदि किसी ओर कुछ करना है, तो वह दिशा अन्तर्मुखी है, उसका कर्त्तव्य-कर्म यही है कि वह अपने जीवन-मूल के साथ उत्तरोत्तर अभिन्न होता जावे, वह अपनी आत्मा को पावे। बस, आत्मरूप होकर वह रहे।

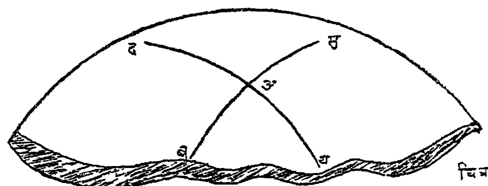
जो पिण्ड की आत्मा वह ब्रह्माण्ड की भी आत्मा है। अपने को पाना ब्रह्माण्ड को पा लेना है, क्योंकि परमात्मा एक है।

इस अध्यात्म के सत्य को हम लोक सत्य ही समझें। उसे समझने के लिए तरह-तरह के उदाहरणों की सहायता ली जा सकती है; पर समझने को वही है।



चित्र २ मे उ बिन्दु पृथ्वी का केन्द्र है। समूची पृथ्वी यदि टिकी हुई है और अखण्ड है, तो मध्याकर्षण की शक्ति द्वारा, उसी पर, उसी मे। यह तो है ही कि पृथ्वी पर फिर सूर्य और अन्य ग्रहो का प्रभाव भी है, लेकिन पृथ्वी पर खड़े व्यक्ति के लिए पृथ्वी के मध्य केन्द्र ३

का आकर्षण ज्ञान उसके धर्म-विचार के लिए पर्याप्त है। केन्द्र और परिधि दो नहीं है। अत्यन्त अभिन्नता के साथ वे एक है। समझने के लिए ज्यामिति की धारणा हमने की है और दो शब्द बनाकर उन्हे दो समझा है। एक ही बीज मे उत्पन्न होने के कारण उनमे द्विधा कल्पित भर है।



अब पृथ्वी के धरातल (चित्र २) पर खड़ा अ व्यक्ति ब, स, द, य मे से किसी ओर जा सकता है, लेकिन पृथ्वी के तल पर व्यक्ति की स्थिति यदि सम्भव है तो तभी जब पृथ्वी का माध्याकर्षण उसे थाम रहा है। अ बिन्दु जिधर भी जाय, उसकी गति उस शक्ति से प्रभावित है जो (चित्र २ मे) धरातल पर व्यक्त नहीं है, पर जिसका (चित्र ३ में) अ-उ रेखा से संकेत किया जा सकता है।

अ पृथ्वी के धरातल पर जिधर भी चले उसकी स्थिति बिन्दु की ही रहेगी। धरातल पर होकर वह स्थानान्तरित होता है, चलता नही। धरातल पर रहकर वह खिचता है, बढ़ता नहीं। अर्थात् वह गति करता नही है, गति उस पर होती है। वह गति-मान नहीं, गति-गत है, केवल Anto Maton है।

किन्तु यदि वही अ साधना पूर्वक अपने केन्द्र की ओर यानी अ-उ की दिशा मे किंचिन्मात्र भी गति करता है तो वह प्रगति है। क्योकि इस गति मे अ मात्र स्थानान्तरित, ही नही होता है, बल्कि अपनी बिन्दुता से आगे बढकर वह अपनी सत्ता और शक्ति को कुछ अधिक

व्यापक बनाता है। यानी ऐसे वह बढ़ता भी है।

सच तो यह है कि केन्द्र के प्रभाव से धरातल कभी भी मुक्त नहीं है। लेकिन धरातल जितना अधिक केन्द्र के साथ अपने ऐक्य को अनुभव करता है, उतना ही वह चैतन्य-स्वरूप बनता है। कुल का भाग बन कर वह कुल की प्रकृति का समभागी बनता है। धरातल पर का बिन्दु बिन्दु ही है, सिर्फ अणु है। पर यदि उसको केन्द्र-चेतना प्राप्त है तो वह अणु न रहकर अखिल हो जाता है। बिन्दु निखिल बनता है। चित्र ३ में कल्पना कीजिए कि अ व्यक्ति आत्म-केन्द्र उ की दिशा मे ब बिन्दु तक साधनापूर्वक अपनी चेतना को ले जा सका है। तब कहा जा सकेगा कि अ का व्यक्तित्व बिन्दु-मात्र नही रह गया है, बल्कि अब वह अ स ब द क्षेत्र जितना व्याप्त हो गया है। अ इसी भाँति विराट् बनता जा सकता है। वही उसके व्यक्तित्व का बढ़ाना अथवा प्रगति करना कहलाएगा।

ज्यामिति के स्थूल उदाहरण से यदि हम सूक्ष्म चैतन्य-क्षेत्र के आकलन तक पहुँच सके तो ज्ञात होगा कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा की दिशा मे जितना बढ सका है, बाहर जगत् की ओर भी उसकी सहानुभूति उतनी व्यापक हो गई है। अपने अन्तर मे प्राप्त हुई ऐक्य-शक्ति के द्वारा उसका व्यक्तित्व बाहर की ओर भी विशद और विस्तृत हुआ है। व्यक्ति संस्था हो गया है।

इसी भाँति बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति समष्टि रूप हो सकता है। जिसमें आत्मबोध यानी विश्वबोध अत्यन्त जाग्रत है, ऐसा व्यक्ति, व्यक्ति होकर भी इतना विराट् होता है कि असंख्य जन उसमें अपनी कल्पना की मुक्ति पाते हैं और उसके ध्यान मे अपने को विसर्जित कर देते है। उसकी वाणी आगम बनाती है और उसका कर्म इतिहास का निर्माण करता है। उसका बल काल के साथ क्षीण नही होता, बल्कि गुणानुगुणित होता है। व्यक्तित्व उसका राष्ट्रों और जातियों की श्रद्धा-भक्ति के समर्पण द्वारा उत्तरोत्तर प्रेरक बनता जाता है। उसकी देह-गत इकाई

कभी की मिट चुकी हो, फिर भी वह कोटि-कोटि मानवो का मुक्ति-मन्त्र बनकर अक्षय रूप मे विराजित रहता है।

असंख्य मानव हैं और उनमें असंख्य सम्भावनाएँ है। उनमे से एक की भी सम्भावनाओ को कम करने की इच्छा करने की आवश्यकता नही है। जरूरी है कि सब अपने भीतर के निहित उद्देश्य की पूर्ति करें और उसके लिए अपनी ही राह चलें। वह राह उनकी अपनी होगी। इससे किसी और की नहीं होगी। वह आवश्यक रूप में अद्वितीय होगी। फिर भी राह तो एक ही है, क्योकि परमात्मा एक है। चेतना एक है, और सबके अन्तःकरण मे ऐक्य है, अतः सब के स्वत्व को अक्षुण्ण रखकर भी जो उनके ऐक्य मे प्रस्फुटन लाती है, वही प्रगति की राह हो सकती है। वह राह व्यक्ति मे अपनी ही ओर जाती है और प्रेरणा वही अन्दर से लेती है। व्यक्ति फिर उस अन्तःप्रेरणा को ही प्रकाश्य गति रूप मे बाहर की ओर दे देता है। यही जीवन की प्रक्रिया है।

इस आत्माभिमुखता से विलग होकर जो भो गति है, वह भटकन है। आत्मा को खोकर समूची धरती का राज्य पा लेना धूल पाना जितना भी तो नहीं है, क्योंकि वह माया है। यश, कीर्ति, धन-सम्पदा, शक्ति शासन आदि को सामने रखकर जो गति की जाती है, वह प्रगति नही होती, क्योकि उससे व्यक्ति नहीं बढता, बन्धन बढता है! ऐक्य नहीं बढता, डाह बढती है। व्यक्ति की प्रगति है हृदय के व्यापक होते जाने में। हवाई जहाज पर दो सौ मील की रफ्तार की गति जैसे मानव-प्रगति के लिए असंगत है वैसे और लौकिक गतियाँ भी असंगत है; अतः प्रगति का लक्षण है व्यक्ति की सहानुभूति की व्याप्ति। सहानुभूति का जितना विस्तार होगा अहंकार उतना ही पतला होगा। इसलिए जहाँ जितना अहकार गाढा है और आग्रह तीव्र है वहाँ प्रगति उतनी ही कम है।

इस तरह अपूर्ण प्राणी के लिए प्रगति की आवश्यक शर्त हो जाती है, व्यक्ति की आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन की प्रार्थनामुखी वृत्ति।

दूसरे के नुक्स जो देखता है, वह ठहरा हुआ है, क्योंकि दूसरे की गति की ठोकर ही उसे लगती है। चलने वाला अपने नुक्स पर आँख रखेगा। औरों का दोष वह अपने में देखेगा। दूसरे को बुरा-भला न कह कर वह अपने को कसेगा। यह नहीं कि द्वि-पदी मानव-भाषा का प्रयोग वह नहीं करेगा। भाषा में विशेषणों का द्वित्व और युग्म तो अनिवार्य ही है। सत्-असत्, हेय-विधेय, पाप-पुण्य, अच्छा बुरा आदि तुलना के शब्द उसकी भाषा में भी आयेंगे ही। पर ऐसे शब्दों को झेलने वाली उसके अन्दर की अपनी वेदना होगी। सख्त शब्दों से यदि वह बचेगा नहीं तो इसीलिए कि सबसे अधिक उसकी चोट को लेने वाला वह स्वयं ही होगा। उसकी भाषा में रोक कहीं न होगी।

इस भाँति सच्ची प्रगति की राह पर चलने वाला व्यक्ति समाज का प्रेमी होगा। क्योंकि समाज के हाथों दण्ड पाने के लिए वह सदा उद्यत् होगा। वह समाज-विद्रोही या समाज-शास्त्री या समाज-शासक नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह समाज को अपने से अलग न मान सकेगा। वह समाज की व्यवस्था का आदर करेगा और उसके विकार का अपने ऊपर कष्ट स्वीकार करके परिहार करेगा। वह समाज का सेवक होकर शास्ता होगा और सविनय होकर सुधारक होगा। उसकी आलोचना प्रेम की व्यथा में से सम्भव बनेगी और उसकी सहानुभूति शासक से अधिक शासित के साथ होगी। जज से ज्यादा अभियुक्त के लिए उसमें दर्द होगा, पर क्षमाशील होकर अपराधी के प्रति वह न्यायी भी हो सकेगा।

हम किस ओर बढ़े? जवाब है: प्रेम की ओर। प्रेम का मतलब आत्मार्पण। अपने से अधिक हमें ध्यान हो दूसरे का, उसकी इज्जत का और उसके अधिकार का। हमारा स्वत्व इतना कम होता जाय कि हमारे पास स्वधर्म से अतिरिक्त और कुछ अपना बचे ही नहीं। जो हो हमारे लिए कर्त्तव्य हो। कर्त्तव्य-पालन का फल अधिकार के रूप में हमारे पास आवे भी तो वह उस कर्त्तव्य को और विस्तृत और गम्भीर

ही बना दे। अधिकार में हम भोग न देखें। जीवन ही हमारे लिए स्वार्थ-भोग की जगह स्वार्पण का धर्म हो जावे। इस सबका मतलब है कि हम अन्तरात्ममुखी हो और बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् की अपेक्षा मे देखें। उसी अपेक्षा मे उसको संस्कार दें। यानी स्वयं संस्कारी और स्वच्छ बनकर जगत् को संस्कारशील और स्वच्छ बनावें।

यह तो प्रगति। इससे जो विमुख वह भ्रान्ति। इस मूल तत्त्व से यानी ईश्वराभिमुखता से विरुद्ध होकर जो भी है, वह अनिष्ट है। वैसा ज्ञान बोझ है, कर्म बन्धन है और कला विलास है।

हम किधर चलें?—मुक्ति की ओर।

मुक्ति कहाँ है?—ईश्वर मे।

ईश्वर क्या है?—ऐक्य।

इससे विचार मे और कर्म मे, व्यवहार मे और अध्यात्म मे, बढ़ें हम तो ऐक्य की दिशा मे। वह दिशा सबके लिए भिन्न है, फिर भी सबके लिए एक है। वह अद्वितीय है। वह सबको इसी क्षण सुलभ है। उसके लिए प्रतीक्षा की या शोध की आवश्यकता नहीं है। न कहीं भागने की ज़रूरत है। उसकी सूचना तो हमारे भीतर हर समय ही ध्वनित हो रही है। उसको सुनते भर रहना है।

अच्छाई-बुराई

(१)

सवाल है कि अच्छाई-बुराई क्या ?

एक पड़ोसी बुजुर्ग की उदारता से प्रभावित हूँ। आसपास कोई बीमार हो कि वह देखने पहुँचेंगे, सलाह देंगे, दवा करेंगे। सभा-सस्थाओं को दान देते है। कई छात्र उनकी ओर से वृत्तियाँ पा रहे है। जाड़ों में रज़ाइयाँ बटती हैं। अनेक समितियो के वह सदस्य है। धन है, पर व्यसन कोई नही है। पढ़े नहीं तो गुने बहुत है। पैठ उनकी गहरी है। बुद्धि चौकन्नी। कान और आँख खोलकर रहते है। ऊपर धन का दिखावा नहीं दीखता है।

सब है, पर अरे यह क्या ? लाला के मुँह से तो फूहड गालियाँ निकल रही हैं ! आगे की सुध नही, ऐसे गुस्से मे है। ऐं, क्या हुआ ? —ओह, वह तो उनका नौकर है। नौकर ने गुस्ताख़ी की होगी। ताबेदार लाला के आगे मुँह खोले ? यह हो और लाला उसको सह जायँ ? जी नहीं, ऐसे लाख का घर उनका राख न हो जायगा ! इससे अपने लखपतीपन को लेकर वह काफ़ी सगर्व और सावधान है।

ऐसे ही एक रोज़ जगराम आया। लाला की घुडसाल पर वह सईस था। आदमी मेहनती और मजबूत था। पर आया तो गिडगिडाता हुआ। मैने कहा—जगराम, क्यो क्या बात है ?

बोला—बाबू, लाला से हमारी तनख़ा दिवा दो।

मैंने पूछा—क्या हुआ ?

बोला—निकाल दिया।

बात यह हुई कि लाला ने सवेरे आकर कहा कि 'घोडी आज घुमाकर क्यों नही लाया ?' जगराम ने कहा कि 'घुमा लाया हूँ, जी।' लाला ने कहा, 'चुप सूअर, जवाब देता है। हम कहते हैं, नहीं घुमाके लाया, फिर भी बके जाता है।' जगराम ने कहा कि 'हुज़ूर, घुमा लाया हूँ।' इस पर लाला ने गुस्से मे जो कहा वह दुहराया नहीं जा सकता और जगराम को उसी वक्त बरख़ास्त कर दिया।

जगराम का ख़याल था कि लाला दिल के दयालु हैं ! तनखा देंगे ज़रूर, बल्कि चाहे वाजिब से भी ऊपर दे। पर उसे नीचा दिखाना चाहते हैं। लेकिन ठाकुर का बेटा बहन-बेटी की गाली नही सुन सकता। जाकर अभी उनके हाथ जोड़ूँ तो फौरन सब पैसे दे देंगे, यह पक्की बात है। पर वह तो मुझसे होने वाला नहीं। लेकिन, आप जानते हैं, बाबूजी, गरीब आदमी हूँ, सो कहके तनख़ा दिवा दो तो बडा जस हो।

जगराम की बात सच है। लाला दयालु है, दीनों के प्रतिपालक हैं, और दान-इनाम बहुत देते रहते है। पर अपने सम्मान का भाव उनमें इतना चहका हुआ रहता है कि वही अभिमान हो जाता है। दान और दया से उनके सम्मान को सुख मिलता है। उनके अभिमान को ऐसे सेक पहुँचती है। उसी फोडे पर उँगली पड़े तो यह उनको सहन नहीं हो सकता। उस अभिमान के किनारे के उस पार लाला बड़े भले हैं, उस किनारे से इधर उनकी कमज़ोरी नज़र आ जाती है।

उनसे दान पाने वाले से पूछो तो लाला बड़े भले है। गाली खाने वाले से पूछो तो तस्वीर उतनी उजली नही है।

अब लाला भले है कि बुरे, इसका क्या जवाब है ? जवाब है कि दोनों हैं। सच पूछिए तो न वह एक है, न दूसरे है। वे विशेषण तो

खाने हैं, और लाला व्यक्ति हैं। अर्थात् वह स्वयं है। अपने मे डुबकी अपनी आदतों से और न जाने किस-किससे लाचार वह बिचारे एक आदमी हैं। भिखारी देखते है तो दान उन्हे वैसे ही देना पडता है जैसे गुस्ताखी देखते है तो गुस्सा होना पडता है!

(२)

एक खूनी चोर पकडा गया। राम-राम, कैसा खूँख्वार! अजी तीन खून उसके माथे है। और चोरियाँ तो कितनी! मुश्किल से हाथ लगा। पुलिस अपने को शाबाश मानती है।

पर घर पर उसकी माँ छाती पीट रही है। वह माँ बेटे को जानती है, चोर को नहीं जानती। माँ बीमार थी और खाने को और दवाई को कुछ न जुटता था। तब उसके बेटे ने पहली चोरी की। माँ सुनकर काँप गई। पर उस बात पर बेटे के प्रति कृतज्ञता के आँसू भी उसमे आये। अपनी चोरी के कारण माँ के निकट वह कुछ और भी अधिक बेटा हो गया। माँ के लिए तो उसकी चोरी एक तरह से उसका स्वार्थ-त्याग ही थी।

वही चोर आगे डाकू बन गया। सुनते हैं धन लाता और गरीबो में दाएँ-बाएँ बाँट देता था। और वे दीन लोग आँखो मे आँसू लाकर अब उसे याद करते है।

नाम समझिए उसका तुल्ला है। यानी तुलाराम। अब सवाल है कि वह तुलाराम क्या है? जेल मे वह डाकू है, फाँसी पर हत्यारा होगा। पर माँ के जी मे और कुछ लोगो की आँसू-भरी आँखो की दृष्टि मे वह क्या है? वहाँ बुरा नही, शायद भला है और प्रेम का पात्र है।

अब पूछें कि तुल्ला क्या है? अच्छा है कि बुरा है? तो मालूम होगा कि वह दोनो है और एक भी नही है। सच पूछिए तो वह स्वयं है। कुछ अनिवार्य कारणों का अनिवार्य फल। आँसुओं मे से भला दीखता है, कानून में से बुरा दीखता है।

(३)

ऊपर दो उदाहरण दिये। पर हम सब, या हर कोई, उदाहरण है। सबका वही हाल है। सब अच्छे हैं, सब बुरे है। उस ओर से वह, इस ओर से यह। असल में सब अनिवार्य है। अच्छाई-बुराई को अपने द्वारा प्रगटाने वाले होकर भी खुद अच्छे-बुरे नही है।

इस तरह सब समान है। पक्षपात का दोष ईश्वर को भला कैसे दिया जा सकता है! सर्वव्यापी होकर पक्षपाती होना ईश्वर के वश का ही काम नही। अतः वैज्ञानिक और धार्मिक-बुद्धि समदर्शी है। सबके भीतर की राशि के ऋण-धन जोड़ें और ईक्वेशन फैलाएँ तो फल वही हाथ लगेगा : शून्य।

जगराम और सेठ तुल्ला और जज, सभी आदमी है। सब की कीमत और जगह इस दुनियाँ मे अलग है। एक घट है, दूसरा बढ़ है। सेठ जगराम को गली दे सकते है और तनखा रोक सकते है, जगराम गाली खा सकता है और तनखा के लिए गिडगिडा सकता है। उसी तरह तुल्ला कानून के फंदे से फाँसी पा सकता है, क्योंकि जज, किताब देखकर उस कानून के फन्दे की फाँसी उसे दे सकते हैं। समभावी सृष्टा की इस सृष्टि मे इसी विषम भाव से काम चला करता है। सबके अलग काम हैं और अलग दाम। यहाँ तक कि उनमे आकाश-पाताल का फर्क और भक्ष्य-भक्षक का सम्बन्ध दीखता है। हाँ, वह अन्तर और विरोध-सम्बन्ध है भी। फिर भी सब आदमी हैं। यानी सबके भीतर एक सामान्य सत्य है। सब प्रेम से खिलते और अपमान से झुलसते हैं। सबमे 'आहार निद्रा, भय मैथुनं च सामान्यमेतत्' है।

इससे मुझे हक़ नहीं कि एक को अच्छा और एक को बुरा कहकर मै छुट्टी पाऊँ। सत्य पर मैं आँख नहीं मीच सकता। तुल्ला फाँसी पा रहा हो, तब जज ब्रिज खेल सकता है। इस फ़र्क पर आँख मैं नहीं मीचता। आँख मींचना उससे घबराना होगा। लेकिन मुझे इच्छा नहीं कि जज के ब्रिज खेलने और डाकू के फाँसी झूलने में मै विघ्न बनूँ।

अर्थात् वह अन्तर मैं खुली आँख से देखता और खुले मन से मानता हूँ। फिर भी उन्हीं आँखों में यह भी देखता और उसी मन से यह भी मानता हूँ कि जज जैसे अच्छा वैसे बुरा भी है, और डाकू भी जैसे बुरा, वैसे अच्छा भी है।

अर्थात् इस दुनिया के आदमी में जो अन्तर हमें नज़र आता है, उन आदमियो मे से किसी को अच्छा और दूसरे को बुरा कहकर हम उस अन्तर को नही समझ सकते। यह तो राग-द्वेषमयी वृत्ति होगी। उसकी जड में हमारी रुचि-अरुचि काम कर रही हो सकती है। हम उस बारे में व्यक्तिगत रूप से सावधान हो तो भी वर्ग-हित और वर्ग-चेतना से आबद्ध हो सकते हैं। यानी हमारा विवेक शुद्ध-विवेक नहीं, वर्ग-विवेक हो सकता है।

क्या आप समझते हैं कि मोटी तनखा और मोटी किताब और बारीक बुद्धि लेकर सदण्ड-विवेक के प्रतिनिधि जो जज-मजिस्ट्रेट समाज के हृदय के बीच से अधिक समाज के सिर पर बैठे हुए हैं, वे अन्तः विवेक के प्रतिनिधि हैं? नहीं, तात्कालिक शासन की न्याय-पुस्तक (दण्ड-पुस्तक) के संरक्षक और पहरेदार भर वे है। वे अपनी बात नहीं कहते, या अपनी कहते समय भी अपने वर्ग की बात कहते हैं।

इसलिए वे सब आईन-कानून, जिनके साथ विषम-बुद्धि और दण्ड-भावना मिली हुई है, कतिपय की स्वार्थ-रक्षा के काम के हैं, सच्ची प्रगति के प्रयोजन के वे नहीं हैं। सत्य-शोध के काम लायक वे नहीं हैं। सत्य-शोध के लिए समत्व-बुद्धि से चलना होगा। महात्मा और पापात्मा, ब्राह्मण और चाण्डाल सबमे समत्व-बुद्धि। उस समभाव के साथ ही जीवन-तत्त्व की असल जिज्ञासा और असल शोध हो सकेगी।

आशय कि जब हम दृढता के साथ मान लेंगे कि आदमी कोई अच्छा और कोई बुरा नही है, सब अच्छे हैं क्योंकि सबमे ईश्वर का वास है और सब बुरे हैं क्योंकि सब ईश्वर से भिन्न हैं, निश्चय के साथ जब हम यह मानकर चल सकेंगे तब ही अच्छाई और बुराई के सवाल

का जवाब ढूँढ़ने के अधिकारी होंगे।

अगर हम जानना चाहते है कि अच्छाई-बुराई क्या है तो हमे डाकू के बारे मे जज के फैसले, या जज के बारे मे अभियुक्त के फैसले को अपने मन से एकदम दूर हटा देना चाहिए। जिसको बुरा समझा है उस के भीतर से बुराई की गाँठ मिल जायगी और जिसको धर्मात्मा माना है उसमे से अच्छाई का मन्त्र मिल जायगा, यह मानना भ्रम है। आलोचना से व्यक्ति को पकडकर कुछ नही मिलता। चीमटे से हवा नहीं पकडी जा सकती। व्यक्ति प्रेम से मिलता है। व्यक्ति के भीतर का सत्य भी प्रेम से मिलता है। बृहत् और व्यापक प्रेम का नाम ही समताभाव है। प्रेम से देखने पर दोषी अपने दोष के कारण बल्कि और भी करुण प्रेम का पात्र हो जायगा। उसी तरह प्रेम से लोगे तो जज की जजी का आतंक और ओट एकदम शून्य हो जायगा और जज नाम के आदमी की असलियत आँखों के लिए रह जायगी।

ऐक्स-किरण होती है न। उससे मास के आवरण के आर-पार जो है वह दीख आता है। प्रेम भी वही किरन है। उससे ऊपर की व्यर्थताओ के नीचे और पार जो सचाई है उस पर नजर टिकने का सुभीता होता है। उतने गहरे मे डाकू की डकैती और धर्मात्मा की माला और दुनियादार की अहम्-तुष्टि क्या तनिक भी बच सकती है? ज्वालामुखी के गर्भ मे ज्वाला के अतिरिक्त क्या कुछ भी और हो सकता है? कूडा हो कि कंचन, सब वहाँ जाकर आग हो जाता है। इसी से कहना होता है कि अच्छे का अच्छापन और बुरे का बुरापन उन आदमियो की असलियत नहीं है। असलियत जानने के लिए उन पर हम-आपके चिपकाये हुए सब लेबिल फाडकर अलग कर देने होंगे! लेबिल काम देते हैं, पर उन्हीं लेबिलो की जब पडताल का सवाल हो, तो वे ही काम मे बाधा दे सकते हैं।

हम अच्छाई-बुराई को भीतर से समझना चाहते हैं, इसी से इतनी भूमिका की जरूरत हुई। अच्छाई-बुराई को समझने मे हम एक कदम

भी आगे नहीं बढ सकते जब तक उन्हें तरह-तरह के आदमियो से चिपटी हुई देखने के हम आदी है। व्यक्तियो मे जो भेद करती है ऐसी बुद्धि के पूर्वाग्रह शान्त नहीं हैं। अपने पूर्व-ग्रहों को पहिले सुला देना होगा। व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से ऊँचे हो जाना होगा। मत-मतान्तर से अपने विवेक को शुद्ध रखना होगा।

कल्पना है कि मौत के बाद लोग धर्मराज के आगे पेश होते हैं। तो क्या वहाँ सब अपने-अपने कपडो में ले जाये जाते होगे ? राजा ताज मे और गरीब चिथडों मे वहाँ पहुँचता होगा ? कलक्टर साहब कलक्टरी लेकर और चपरासी कमर मे चपरास बाँधकर क्या वहाँ पेश होता होगा ? वह दरबार मेरा देखा नही है। पर मालूम होता है कि कपडे सब यहीं रह जाते होगे और अपनी भीतरी यथार्थता मे ही उस अदालत मे सब खडे होते होगे ! जो विशेषण की आँख मे आता है, वह छूट जायगा, और विशेष्य ही वहाँ पहुँचेगा। तब कौन जाने कि वहाँ इंजील की बात ही घटित दिखाई दे कि The first shall be the last and the last first

आशय : अहंकृत मान्यताओ को चुप करके ही हम सत्य-विचार की दिशा में बढ सकते है। मान्य का आदर और घृणित का अनादर छोड दोनो को एक ज़मीन पर बैठने देना होगा, तब बात आगे चलेगी।

यानी अच्छाई-बुराई सच्चे तौर पर तभी जानी जा सकेगी जब आदमी में अच्छा-बुरा हमारे लिए कोई न रह जायगा।

(४)

ऊपर देखा कि व्यक्ति अच्छा-बुरा नहीं है। तब अच्छाई-बुराई कहाँ है ?

१. कर्म मे ?

२. फल मे ?

३. आत्मा में ?

४. परिस्थिति मे ?

[कह सकें कि अच्छाई-बुराई ही नहीं, तब तो ठीक है। पर क्या वह हम कह सकते हैं? नही, भाषा मे वह हम नहीं कह सकते। भाषा द्वैत पर सम्भव बनती है। अद्वैत मौन-श्रद्धा का विषय है। यह तो सच है कि जो अन्तिम है; वह अखंड है, उसमे तो अच्छाई-बुराई आदि सभी द्वित्व मुक्ति पाते हैं। पर द्वैत काटने के लिए भी द्वैत का विचार किया जा सकता है।]

१. कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नही है। कर्म कर्त्ता से निरपेक्ष नहीं। माँ ने प्रेम की थपकी दी, दूसरे ने क्रोध से वैसे ही थपकी दी। यहाँ कर्म का रूप एक है, उसके तोल दो हैं।

२. फल मूल-भावना से भिन्न है। माँ के प्रेम की थपकी बच्चे को रुला भी सकती है, दूसरी और कोई बात हो सकती है जिसकी चोट शरीर पर न दीखे, मन पर गहरी पडे। इस तरह आँख से या सहज बुद्धि से दीखनेवाला फल छल भी हो सकता है।

३. आत्मा यदि मूल-चैतन्य का नाम है तो यह बडी गहन-गवेषणा का विषय होगा कि अच्छाई बुराई का द्वित्व वहाँ कैसे होने में आया?

४. परिस्थिति मे उसे देखना अपने को अपने से बाहर देखने के बराबर है। सचमुच उस सिद्धान्त पर चलें तो चोरी के लिए चोर को छोडना और उसके आसपास की परिस्थिति को पकड़ना होगा। यानी चोर को माफ़, और हवा को साफ करने मे लगना होगा। उस बात में भी तथ्य है, पर तथ्य का अंश है। चोर अपनी परिस्थिति का शिकार नहीं; बल्कि अंशतः अपनी परिस्थिति का निर्माता भी है। उस दिन जाने किस कारण लहसुन की गाँठ कमरे मे रखी थी। कमरा उसकी गन्ध से भरा मालूम हुआ। ऐसी हालत में उस गन्ध से छुटकारे का क्या यह उपाय होगा कि लहसुन की उस गांठ को तो छेडे नही, और सारे कमरे मे इतर छिडकते फिरें? अर्थात्, कमरे मे भरी गन्ध उस कमरे में रखी हुई चीज़ो से एकदम इतर वस्तु नही है। इस लिहाज़ से परिस्थिति मे अच्छाई-बुराई देखना कारगर न होगा।

सवाल होता है कि तब फिर क्या करना होगा ?

बेशक सवाल वह सच्चा है। एक तरह वह नित्य है। प्याज को जानने के लिए उसके छिलके को छिलका कहकर छीलते चले तो वह प्याज़ कहाँ रह जायगी ? 'यह भी नहीं,' 'वह भी नही,' इस पद्धति से 'जो है' क्या वह मिलेगा ? अन्त में 'नेति' ही हाथ रह सकती है।

पर मै कहता हूँ कि 'नेति' से कोई क्यो घबरावे ? दार्शनिक का 'नेति' ही भक्त का 'तत्सत्' है। हम 'नेति' को शून्य रखने को लाचार क्यो बने रहे ? भक्ति हो तो 'न कुछ' (नेति) ही हमें 'सब कुछ' (ईश्वर) हो सकता है।

तर्क की सीमा निषेध की सीमा है। उस सीमा तक हमें ले जाने के लिए हम उसके कृतज्ञ ही हो सकते हैं। वह सीमा ही कारण है कि उसके आगे हम श्रद्धा का अवलम्ब थामे। कहा जायगा कि तर्क जहाँ रुक जाता है, उस हद से आगे भी कुछ है यह किस आधार पर माना जाय ? स्पष्ट है कि तर्क के आधार पर तो यह नहीं माना जा सकता। तब क्या सत्य को सीमित मानना होगा ? कठिनाई है तो यही है कि व्यक्ति लाचार होना नही चाहता। कहीं उसकी हद खींच दी जाय, यह वह नहीं सह सकता। शरीर की हद है, पर मन उस हद को नहीं मान सकता। इससे जहाँ हद आई और उससे आगे बढने की मुमानियत आई कि वही वह उसे अपने भीतर की शक्ति से न मानने को लाचार हो जाता है। इससे तर्क को वह स्वीकार करता है, और जहाँ तर्क रुके, वहाँ श्रद्धा को स्वीकार करता है। आँख जहाँ तक जायगी वहाँ तक देखेगी। आँख नही जायगी, वहाँ व्यक्ति बुद्धि से जायगा। बुद्धि नहीं जायगी, वहाँ श्रद्धा से जायगा। अर्थात् अपनी आत्मा पर वह सीमा स्वीकार नही करेगा। सीमित शरीर के भीतर की आत्मा को असीम से कभी कुछ और वह नहीं मान सकेगा।

असल बात यह है कि कार्य-कारण की कडी जोडती चलने वाली बुद्धि चल सकती है स्थिति पर। नकशा बनेगा तो स्थिर कनवास पर।

इसी से कील जड़ कर कनवास को खूब कस देते है, तब उस पर ड्राइंग खींची जाती है।

किन्तु यह सुविधा जीवन का चित्र बनाने या उसका विज्ञान समझने वाले के लिए नही है। जीवन-पट थिर है ही नही; वह प्रतिक्षण प्रवाही है। बहते पानी पर तस्वीर खिचेगी तो कैसे ? लकीर खींचते है कि बहाव सब भर देता है।

तो भी हवा शान्त हो, प्रकाश मध्यम हो, पानी कुछ सोया हुआ-सा बह रहा हो, तब किनारे पर बैठकर उस पानी की सतह पर चित्र भी दिखाई दे आता है। अधिकतर वह चित्र हमारा ही होता है। कभी किसी प्रियजन का भी वह चित्र हो सकता है। पर पानी के बहने के साथ चित्र काँपने लगता है, बिखर जाता है और धूप खूब फूटी हो तो वह चित्र बनना ही मुश्किल हो जाता है। इस तरह यदि भागते जीवन पर कोई हम अपना चित्र उभार देखते भी है तो अधिकांश सम्भव यह है कि जीवन-पट को सोया हुआ कल्पित किया है और उस पर हमने अपना ही चित्र उतार देखा है। वह जीवन का चित्र नहीं, हमारा अक्स है। यह भी हो सकता है कि उस चित्र के पीछे कनवास ही न हो और एक बेसुध तन्मयता मे मानो शून्य पर ही उभार कर वह देख लिया गया हो।

अर्थात् तर्क के कदमों को थिर जमीन चाहिए। और जीवन एक बहाव है। इससे तर्क सब-कुछ करके भी उसके बहतेपन को नहीं पकड पाता।

यहाँ मै कहना चाहता हूँ कि जीवन की गतिशीलता से अलग होकर अच्छाई-बुराई को नहीं समझा जा सकता है, समझा जायगा तो वह समझना ग़लत होगा। कर्म में, फल मे, परिस्थिति मे अच्छाई-बुराई को देखना जीवन के गति-पक्ष से अपनी दृष्टि को विमुख रखकर ही हो सकेगा।

किन्तु गति तो जीवन का लक्षण है। इससे गति-निरपेक्ष अच्छाई-

बुराई को बाँधने या खोलने वाली सब परिभाषाएँ अधूरी हैं। वे स्थिति को स्थिर करने का आग्रह करके जीवन की गति को रोकती हैं।

थिरता जड़ता है। जड़ता मे अच्छाई-बुराई कहाँ? उसको गतिमय भाषा की परिभाषा में देखना और दिखाना सही हो सकेगा।

(५)

जीवन गतिशील है, इसका क्या अर्थ? गति मे दिशा गर्भित है। गतिशील है तो किस ओर गतिशील है? या कि उसकी गति मे दिशा नहीं, केवल मात्र स्पन्दन है?

स्पन्दन भर मानें और दिशा न मानें, तो काल का अस्तित्व व्यर्थ ठहरेगा। फिर ये बीतते जाते हुए दिन क्यो? इतिहास क्यो? भूत-भविष्य क्यो? अर्थात् जीवन प्रथमतः स्पन्दशील है ही, पर उस स्पन्दन मे कुछ लक्ष्य है। केवल बेचैनी नहीं है, एक अभिलाषा है। उस अभिलाषा का मानो एक केन्द्र है। यानी उसमे दिशा है। वह क्या?

इसके जवाब की भाषा पश्चिम की एक है, पूर्व की दूसरी है। भाषा भिन्न है। पर स्वर अभिन्न है। पश्चिम के प्रकृति-वैज्ञानिक और तत्त्व-विचारक ने जवाब दिया: विकास। अखिल सृष्टि अपने में विकास करती जा रही है। हम पर जो परिवर्तन हो रहे या हम जो परिवर्तन कर रहे है, और जिसका लेखा-जोखा इतिहास देता या उससे माँगा जाता है, उन सबमे से विकास अपने को सिद्ध कर रहा है।

अपनी ओर का मनीषी जीवात्मा से परमात्मा, खण्ड से अखण्ड और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जीवन की गति की दिशा को बतलाता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि तमाम सृष्टि की गति ही जब एक दिशा में हो रही है तो दिग्भ्रम या निर्णय का सवाल ही कैसा? हम चाहे-न-चाहे, धरती तो घूम ही रही है। हमारे चलने-न-चलने की बात से क्या कुछ भी उसमे फर्क आता है? और यदि ऐसा है तो फिर

अच्छाई-बुराई का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए ।

यह शंका इतनी अधिक संगत किन्तु सांघातिक है कि इसका जवाब ढूँढने की चुनौती हर विचारक अनुभव करता है और कुछ उसका जवाब देने की भूल में भी पड जाते हैं। इस प्रश्न पर मानव-जाति के अनेकानेक मनीषी पहुँचकर सम्भ्रम से मौन रह गए, और अनेक विक्षिप्त हो गए। इसके जवाब पर जिसने मुँह खोला वही डूबा। और जिसने पाया वह चुप रहा। अर्थात् यह सवाल सवाल ही रहने के लिए है। इसका जवाब खुद वह जवाब होना है। और खुद होना ही जवाब न होने के बराबर है।

फिर भी समझने को कुछ सहारा (जवाब नही) हम पा सकते है। एक नदी-किनारे हम बैठे है। वहाँ धारा मे फूल पत्ते बहे जा रहे हैं। पर क्या देखते है कि कही वे फूल-पत्ते बहते-बहते रुककर चक्कर खा रहे है? या एकाध कुछ आगे जाकर किनारे-किनारे फिर हमारी ही तरफ लौटे आ रहे हैं! यानी, नदी समूची का बहाव एक ओर, और एक होने पर भी, अनेक कारणो से, उसके पानी मे कुछ विषम गतियाँ भी सम्भव बनती है। नदी मे जो भँवर पडते है, वह इसी विषम गति के कारण। यानी सारी नदी जब बह रही हो, तो पानी के लिए नितान्त रूप से दिशाभूल का प्रश्न नही उठता, सही; फिर भी जीवन के प्रवाह मे आवर्त्तक-चक्र कुछ पडते ही हैं।

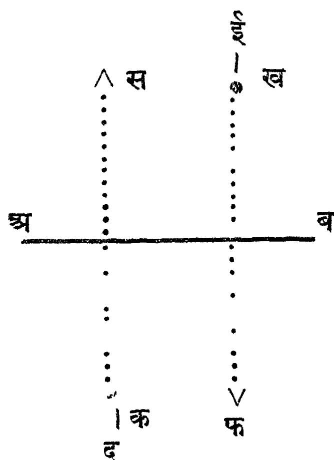
अब, कल्पना के लिए सही गति को हम ऊर्ध्व-गमन और उससे उल्टी गति को अधःपतन कहे। मानिए कि चित्र नं० १ मे स द और ई फ रेखाएँ क्रमशः ऊर्ध्व-गमन और अध.पतन की दिशाओं को बतलाती है। रेखा अ ब हमारी आज की हालत की सतह है।

अ ब, रेखा बिन्दुओं से बनती है, वैसे ही जीवन कर्मों से बनता है। जीव की कर्म परम्पराबद्ध गति व्यक्ति-जीवन है। इसलिए रेखाएँ बिन्दु-रूप दिखाई हैं। बिन्दु मानो एक-एक कर्म है।

अब चित्र मे स द रेखा पर बिन्दु क और ई फ रेखा पर बिन्दु ख

की ओर ध्यान दीजिये।

रेखा अ ब हमारे सामाजिक सदाचार की सतह को बतलाती है। क बिन्दु उससे अधोदिशा और ख बिन्दु ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। इसलिए उनकी गति से निरपेक्ष होकर देखें तो क नामक कर्म नीच-कर्म और ख पुण्य-कर्म कहा जा सकता है!



[चित्र नं० १]

लेकिन उन बिन्दुओ (कर्मों) को रेखा (व्यक्ति-भावना) मे अलग करके देखने से हम भ्रम मे पड़ते है। कर्म की कर्त्ता से अलग सत्ता नहीं है और एक कर्म अपनी परम्परा मे एक कड़ी की तरह है।

इस भाँति उन बिन्दुओ को उनकी गति-दिशा की अपेक्षा में देखें तो मालूम होगा कि क का मुँह स की ओर होने के कारण वह ऊर्ध्वोन्मुख इसलिए सत्कर्म है, और अ अधोमुख अर्थात् असत्-कर्म है।

परिणाम निकला कि सत्-असत्, सु और कु कर्म की अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि व्यक्ति (कर्त्ता) की गति ऊर्ध्वमुखी है कि अधोमुखी

इस बात पर उस कर्म की जाँच निर्भर करती है। इसलिए बड़ा दीखने-वाला कर्म सत् और स्वल्प दीखने वाला असत् है—यह कहना भूल से खाली नहीं है। उसका मुख किस ओर है, वृत्ति किस दिशा मे है, यह देखना ज़रूरी है।

पर बिन्दु मे तो कोई दिशा होती नहीं। इसी तरह केवल कर्म से भी कुछ पहिचान नही होती। दिशा होती है भावना मे, जहाँ से कर्म की उत्पत्ति है। अतः भावना की अपेक्षा से ही कर्म की अच्छाई-बुराई की पहिचान हो सकती है।

मानिए कि एक निस्पृह सन्त है। वह लाखो के श्रद्धा-भाजन है। एक करोडपति उनके चरणो मे दस हजार रुपये चढाता है, और एक दीन दो रोज भूखा रहकर पचास कोस की मंजिल करके आता और उन चरणो मे दो पैसे डालकर अपना सिर नवाता है। इनमे रकम के लिहाज़ से या बड़े या छोटे आदमी के लिहाज़ से उन दोनो के दानो की तुलना नही हो सकती। सभी पहिचान उनके भक्तिभाव के माप मे ही हो सकती है। और उस तुला पर, कौन जानता है कि दो पैसे हज़ारो रुपये से भारी नहीं तुल सकते ?

इसी भाँति एक धार्मिक धनिक ने एक तीर्थ पर के सब अपाहिजो को दो-दो मुट्ठी अन्न दिया और दो हजार रुपये लगाकर ब्रह्मभोज कराया। पर, एक फकीर उन्ही अपाहिजो के बीच मे से हँसता हुआ सीधा निकल गया। कुटिया पर पहुँचा तो एक दीन देहाती जो दो मुट्ठी चबेना उसकी झोली मे डाल गया, फ़कीर ने उसी प्रसन्न मुस्कराहट के साथ उस चबेने का भोग पाया और गंगा का पानी पी निश्चिन्त हो गया।

अब वैश्य की आँखो से करुणा का पानी आ गया है और उसने दिया ही दिया है। फ़कीर ने दिया कुछ भी नहीं, बल्कि सब देख हँसता रहा है। उलटे गरीब से दो मुट्ठी चबेना लेकर उसने अपने पेट में डाल लिया है। तो भी यह नही कहा जा सकेगा कि श्रेष्ठि का दान सन्त

के ग्रहण से उच्च कर्म है। ऊँच-नीच की पहिचान के लिए निगाह को कहीं अन्यत्र पहुँचने लायक बनाना होगा।

इस भाँति गति के विचार से अलग होकर केवल मात्र स्थिति मे अच्छाई-बुराई नहीं देखी जा सकती। जो अधोमुखी हो और करे वह बुराई; और उत्कर्ष जो साधे वह अच्छाई।

और क्योकि व्यक्तियो की भूमिकाएँ भिन्न है इसलिए बिलकुल सम्भव है कि एक के लिए एक कर्म अच्छा और दूसरे के लिए वही कर्म बुरा हो।

(६)

उसी प्रश्न पर एक-दूसरे ढंग से विचार करना उपयोगी होगा। उससे विशेषण नहीं, विशेष्य पर प्रकाश पड़ेगा।

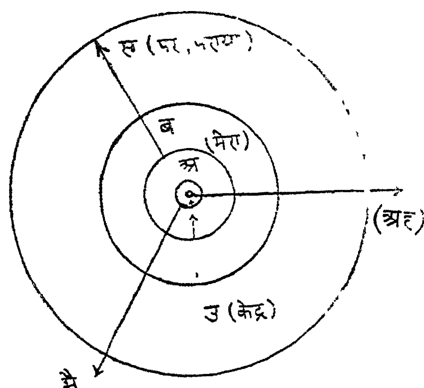
हमारा व्यक्ति-जीवन क्यों है? इसलिए कि वह उत्तरोत्तर समष्टि रूप हो। इसी से व्यक्ति मरता है क्योंकि उसके सदा जीने मे कुछ अर्थ नहीं। और उसी से फिर-फिर वह जीता है, ताकि कभी तो मुक्त हो। अर्थात् व्यक्ति के अहम् को, चाहे तो कहिए विशद होकर या कहिए शून्य होकर, अपनी कृतकृत्यता में निखिल के साथ मिल जाना है। व्यक्ति-व्यक्ति न रहे, विश्व हो जाय। बिन्दु सागर बन जाय।

यही उसके विकास, उन्नति या प्रयास की दिशा है। उस दिशा से बढते जाना अच्छाई है, न बढना बुराई है। न बढने का अर्थ, स्पष्ट हो केवल रुकना नहीं, बल्कि गिरना है। क्योकि चेतन जगत् में स्थिर कोई स्थिति नहीं। क्षण के लिए प्रयत्न ढीला हुआ कि व्यक्ति गिरा। सतत प्रयत्नशीलता ही एक बचाव है।

इस दृष्टि से अच्छाई और बुराई मे तत्त्व-भेद नही है। रुकी भलाई बुराई हो जाती है और रुकी बुराई ही का दूसरा नाम भलाई है।

इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

चित्र नं० २ मे चार चक्र है। सबसे अन्दर का चक्र मानिए व्यक्ति का अहंचक्र है। स्पष्ट हो कि सब चक्रो का केन्द्र एक ही है। यानी विश्व के और व्यक्ति के केन्द्र दो नही है। उसके पास-पास घूमनेवाला चक्र अ है—यानी व्यक्ति के स्व अर्थात् अहम् ने फैलकर मन-बुद्धि-शरीर आदि के साथ जडित होकर नाम-रूपात्मक एक व्यक्ति की संज्ञा धारण की है। उसके बाहर का चक्र (ब) जगत् के उस अंश को



[चित्र न० २]

व्यक्त करता है कि जिसके प्रति व्यक्ति अपनेपन अथवा स्वत्व का भाव रखता है। अर्थात् व्यक्ति दूसरी कुछ वस्तुओ में अथवा व्यक्तियो मे फिर अपना स्वार्थ-भाव फैला चलता है। मेरा धन, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा मित्र, मेरा देश इत्यादि।

इस सीमा के बाहर जो है, वह (वृत्त स) व्यक्ति के लिए पर अथवा पराया है।

अब जीवन की सहज विकास गति यह है कि भीतर के चक्र और सबसे बाहर के चक्र में संवेदन की एकता हो और इस तरह भीतर का प्राणी बाहर के चक्र मे अपने लिए जकड नही बल्कि मुक्ति और पूर्णता

अनुभव करे। भीतर की मुक्ति बाहर से विरुद्ध नहीं, बल्कि अभिन्न बनकर होगी। किन्तु यह कहने से तो नहीं होता। इसके लिए कल्प-कल्पान्तर और जन्म-जन्मान्तर चाहिएँ। भव-बाधा यही तो है।

किन्तु जीव की विकासशीलता की पहिचान इससे साफ़ हो जानी चाहिये। उ बिन्दु जो कि हमारा ही केन्द्र है, किन्तु असल मे जो विश्व का भी केन्द्र है उससे क्रमशः अ, ब और स की दिशा मे हमारे ऐक्य-भाव को बढते चलना चाहिए। जहाँ यह गति आगे बढने से रुकती है, वहीं से वह उलटी यानी अपनी ही ओर को मुड जाती है, यह मानना चाहिये। बस वहीं से वह अयथार्थ हो जाती, और बुराई को जन्म देती है। प्रश्न यही है कि स की परिधि की ओर उ की संवेदन-शक्ति कितनी दूर तक दौड़ने दी जाती है? साधारणतः ब, जो कि उसके स्वत्वभाव की वृत्ति है, उसकी परिधि से आगे व्यक्ति मे मैत्री-भाव नहीं बल्कि कुछ वैर-भाव होता है। अर्थात् उस ब की परिधि पर स का कितना दबाव है, अथवा कितना खिंचाव है, इससे व्यक्ति का महत्त्व जाना जा सकता है। दबाव है तो बुराई, खिचाव है तो भलाई।

अर्थात् व्यक्ति की परीक्षा वहाँ है जहाँ उसकी सीमा है। दूसरे शब्दों में जहाँ उसका मेरा समाप्त होता है और पराया शुरू होता है। वहाँ यदि उसकी चैतन्य-शक्ति अहंकृत होकर काम करती दीखती है और पर से विरोध व द्वेष ठानती है तो ठीक उसी जगह से बुराई का आरम्भ हो जाता है। और यदि उस सीमान्तर प्रदेश पर चैतन्य का प्रवाह अग्रगामी यानी पर के प्रति सहानुभूति में पूर्ण है तो वही क्रियाशील भलाई की पहिचान है।

इसी बात को संक्षेप में यों कहे कि हम मे से सब लोगो के स्वत्व-भाव की एक-एक परिधि है। परिधि के भीतर स्वभावत सब कोई भला है। बाघिन भी अपने बच्चे को प्रेम करती है। अपनेपन के दायरे मे हर कोई प्रेम ही करता है। सवाल वहाँ होता है जहाँ 'स्व' की परिधि 'पर' से टकराती है। अहिंसा का अथवा अच्छाई-बुराई का प्रश्न ठीक

वहीं उठता है।

लाला ने जगराम को गाली देकर क्यों निकाला? तुल्ला ने डाका क्यों डाला? खूनी ने खून क्यों किया? जज के हाथों कानून ने उसे फाँसी क्यों चढ़ाया? साँप ने क्यों काटा? बाघ ने क्यों फाड़ा? इस सब के पीछे एक ही उत्तर मिलेगा। वह यह कि सबने अपने और अपनों के बचाव के लिए पर "पराये" की परवा नहीं की। उन्हें स्वराग था, इसीसे पर-द्वेष के रूप में वह फूटा।

एक माँ अपने बच्चे को बड़ा प्यार करती है। वह प्यार कैसा प्यारा मालूम होता है। वह अच्छाई कही जायगी। पर उसी स्त्री को दूसरे बच्चे की तकलीफ तो छूती भी नहीं। यहाँ तक हो सकता है कि अपने बच्चे के लाड में वह ख़ामख़ा समझे कि पड़ोसिनें उसके लाडले पर जली मरती हैं, हाय, उसे नजर न लग जाय! इस तरह बच्चे का प्यार अगर उसे दूसरों की तरफ सहानुभूति-हीन बनाता है तो वही बुराई का कारण होता है। बच्चे के लिए माँ के हाथों नृशंसकर्म होने की कहानियाँ कम नहीं हैं।

मेरा परिवार भूखा है; बच्चे बिलख रहे हैं। बदन में दम रहते क्या मैं उनका बिलखना अनन्तकाल तक देखता ही रहूँ? लानत ऐसे मर्द पर। इससे रात को निकलता हूँ और पड़ोसी की तिजोरी तोड़ वहाँ से भरे-हाथ लौटता हूँ। तब मैं कह सकूँगा कि मेरी आँखों में तो भूखा बच्चा ही था, किसी की बुराई न थी। फिर भी वहाँ बुराई है, और वह इसलिए है कि बच्चे को और उसके बिलखने को इतना अधिक अपना करके मैंने जाना कि पड़ोसी का दुख मेरी आँखों से एक दम शून्य हो गया। और इस तरह पर से अपने स्वभाव का विरोध मैंने स्थापित किया।

इस भाँति जहाँ भलाई रुकी, और रुककर आत्मतुष्टि दीखी, वहीं से बुराई शुरू हो गई, यहाँ तक कि उस बिन्दु तक की भलाई भी बुराई में परिणत हो गई।

दूसरी ओर मानिये कि एक चोर तय करता है कि बुरी लत तो मुझ से छूटती नहीं, लेकिन चाहे कुछ हो स्त्री पर, बच्चे पर और ग़रीब पर हाथ नहीं डालूँगा। यहाँ बुराई को रोका गया है, इसलिए चोर के इस इरादे में अच्छाई का बीज है।

उस दृष्टि से अपने बालक के प्यार मे पड़ोस के बालक को पराया गिनने वाली माँ बुराई के रास्ते पर है। और प्रयत्नपूर्वक अपनी चोरी की लत पर रोक डालने वाला चोर अच्छाई के रास्ते पर है। वह माँ अपने राग अर्थात् दूसरे के द्वेष मे रस लेती, उधर चोर अपनी चोरी से व्यथा पाता है। वह व्यथा ही है जो कर्म के बन्धन को काटती, और इधर स्वरत्यात्मक वह रस है जो उस बन्धन को बढ़ाता है। यहाँ गीता की उस शिक्षा की सत्यता पहचानी जा सकती है जहाँ कर्म मे इष्टानिष्ट का भेद नहीं बताया, बल्कि कर्म में अकर्म को ही इष्ट बताया है। अर्थात् कर्म में जिस अंश में अकर्मता है, उसी अंश में अच्छाई है। कर्तृत्व का अहंकार यदि है तो कैसे भी भले कर्म में यथार्थ भलाई नहीं रहती।

ऊपर से अच्छाई-बुराई सापेक्ष्य शब्द हैं, इतना ही नहीं, पर उनके भीतर कर्मतः अभेद है यह भी हमे समझ लेना चाहिए। इसी को फैलाकर देखें तो मालूम होगा कि अपनी धार्मिकता से सन्तुष्ट धार्मिक अधार्मिक है और अपने पाप से दुखी और दग्ध पापी पुण्यात्मा है। क्योंकि कर्म में पाप-पुण्य नहीं, मनोवृत्ति मे है। हृदय पर-दुख-कातर हो तो ही अच्छाई है। भीतर दूसरे मे उपेक्षा और अपने मे रति का भाव है तो सब कर्म बन्धनकारक यानी बुरा है।

धर्म और सम्प्रदाय

लोकमत अधिकांश जिनके पीछे चलता है उनमे दो तरह के लोग होते हैं। एक तो कहते है कि धर्म की हानि ही इस युग की समस्या है और धर्म का प्रचार इसका समाधान है। दूसरों का कहना है कि धर्म ही सब विषमताओ की जड है, वही रोग की गाँठ है और आत्मा-परमात्मा से छुटकारा मिलने पर ही जगत् का त्राण है।

ये दोनो ही प्रकार के लोग अपने को और अपने स्वार्थ को भूलकर देश या जाति के लिए प्राणपण से जुटे हुए दीखते हैं, दोनों ही इन्सान का भला चाहते हैं और आपस मे कहीं तो कन्धे-से-कन्धा मिला-कर चलते हुए मालूम होते हैं। ऊपर से जान पडता है कि दोनों का इष्ट एक है और उनमे परस्पर सहयोग भी है।

इससे बडा भ्रम होता है। आस्तिक और नास्तिक, आत्मिक और भौतिक दोनो विचारों के प्रणेताओं मे ऊपर चोटी पर जाकर हम परस्पर सहयोग देखते हैं, यद्यपि ये दोनों विचारधाराएँ आपस मे एक-दूसरे की विरोधी जान पडती है।

धार्मिक जो चाहता है समाजवादी भी अन्त मे वही चाहता है। वह समता चाहता है, सबके बीच स्नेहभाव चाहता है, शोक का अन्त चाहता है, सुख और प्राचुर्य चाहता है। दुःख, हिंसा, द्वेष. मात्सर्य आदि का वह नाश चाहता है। फिर भी वह धर्म नाम की चीज को

नहीं चाहता।

उधर धार्मिक की समझ में नहीं आता कि सुख, समृद्धि और शान्ति, धन पर जोर देने से और वासना को खुली छूट देने से कैसे पार पड सकती है ? धर्म यदि कुछ है तो संसार-तृष्णा को मन्द करने का साधन है। उसके अभाव में समता और बन्धुता आ ही नहीं सकतीं।

यह विरोधाभास गलत-फहमी उपजाता है। यहाँ तक कि इन दोनों सिरों को लेकर दल बन जाते हैं जो एक-दूसरे के खण्डन में ही अपनी सार्थकता मानते हैं।

धर्म शब्द इस तरह विरोध का केन्द्र है। एक विचारधारा के लिए जो बौद्धिक, लौकिक, राजनीतिक है, धर्म विष की और स्वार्थ की गाँठ है। दूसरी विचारधारा जो श्रद्धामूलक आस्तिक और आत्मिक है वह धर्म में ही वह अमृत देखती है जिससे मरता समाज जी सकेगा और तरह-तरह के रोगों से छूट सकेगा।

मेरी धारणा है कि धर्म को लेकर यह विवाद-विग्रह बीच में सम्प्रदाय के आने के कारण होता है

आत्मस्वभाव है धर्म। इस तरह धर्म व्यक्ति में अन्तर्गत है। अपने शुद्ध रूप में वह अव्यक्त है। शब्द से अतीत है और अगोचर है, शरीर दीखता है, आत्मा का अनुमान और अनुभव होता है।

शरीर के बिना आत्मा देखी नहीं गई लेकिन आत्मा के बिना शरीर का भी उपयोग यही है, कि उसे श्मशान में भस्म कर आएँ। इस तरह शरीर की स्थिति आत्मा के ही कारण और आत्मा के ही लिए है, साथ ही शरीर से स्वतन्त्र होकर आत्मा भी नहीं जैसा है। इस तरह देही (आत्मा) देहाधीन है।

जीवन देह और मन (देही) के बीच असमन्जस और सामन्जस्य की एक अनवरत प्रक्रिया का नाम है।

आत्मा अपने को देह द्वारा व्यक्त करता है। इस तरह देह उसके

लिए साधन है पर वही प्रधान हो रहता है तो वह बाधा हो जाता है; तब आत्मा को प्रकट करने के बजाय उसको वह ढकता है। तब उसमें परस्पर विरोध उपस्थित होता है और आत्मा की साधना और उसकी मुक्ति के लिए शरीर का दमन और शासन करना होता है।

कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ असल में तो आत्म-ज्ञान और आत्म-चैतन्य के द्वार और वातायन हैं लेकिन उनमें वृत्ति जब भोग की (अहंकार की) हो उठती है तो उनका निरोध आवश्यक होता है। उसका यह आशय नहीं है कि इन्द्रियों को अथवा देह को नष्ट करना होगा—लेकिन यह आशय अवश्य है कि उनको वश तो करना ही होगा। जो अंश वश न हो उसका फिर नाश भी अनिष्ट नहीं है।

धर्म भी असल में अव्यक्त अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह धर्म धार्मिक के आधार से स्थित रहता या व्यक्त होता है। उसकी आराधना मौन से और उपासना एकान्त से हो सकती है। वही व्यक्त होकर स्तोत्र, श्रवण, प्रार्थना, भजन आदि का रूप लेता है। यहीं से वह उपयोगी अर्थात् एक से दूसरे तक जा सकने और काम आ सकने वाला बनता है।

इस प्रकार वह धर्म जो व्यक्ति को ही नहीं बल्कि एक समुदाय को या जाति को अपनी पारस्परिकता और एकत्रितता में धारण रखता है, भावात्मक ही कुछ नहीं होता बल्कि शब्दात्मक भी होता है। उसका तत्त्व, दर्शन, नीति, रीति और विधि-विधान होता है। धर्म एक संस्था का रूप लेता है, वह सम्प्रदायगत बनता है।

जो संस्थाबद्ध नहीं, उसकी चर्चा भी नहीं। मानव-भावना के लिए उसका कितना भी महत्त्व हो मानव-व्यवस्था में उसका हिसाब आवश्यक नहीं है। संस्था का रूप लेकर जब वह अमुक सम्प्रदाय का शासन-धर्म बन जाता है तब उपयोगिता और समस्या के धरातल पर उसकी गिनती होने लगती है।

मेरा मानना है कि जैसे शरीर के बिना आत्मा की स्थिति नहीं उसी तरह संस्था अथवा सम्प्रदाय के बिना अमुक धर्म की भी स्थिति

नहीं। लेकिन जैसे शरीर होते ही शरीरधारी के लिए जीवन एक समस्या और पुरुषार्थ बन जाता है वैसे ही संस्था और सम्प्रदाय के रूप मे आने के साथ ही धर्म के लिए परीक्षा और प्रयत्न का अवसर आ रहता है।

सम्प्रदाय शब्द में अच्छी ध्वनि नहीं रह गई है। बोध होता है कि जरूरी तौर पर वह कोई स्थापित स्वार्थ है। सम्प्रदाय का जैसे मतलब है दूसरे सम्प्रदाय से विरोध और विग्रह। इस तरह कलह और द्वेष का उसमे बीज देखा जाता है।

एक तरह से यह ठीक भी है। मेरा शरीर मुझे दूसरे से अलग करता है और निज पर भेद का जीव पैदा करता है। उसी को आदि लेकर फिर और तरह के भेद जीव बनते और मजबूत होते है फिर भी जैसे शरीर को साध कर उसे सेवा पर लगाया जा सकता है। उसी तरह सम्प्रदाय को लाँघकर उसे भी इतर सम्प्रदायों की सेवा मे नियोजित किया जा सकता है। जैसे शरीर को इनकार करने से शरीर से छुटकारा नहीं मिलता, बल्कि शरीर के स्वास्थ्य का अभाव ही हाथ आता और इस तरह शरीर स्वयं अन्त मे अपनी सेवा कराता है। इसी तरह इधर मुझे जान पडता है कि किसी आग्रह मे सम्प्रदाय को इनकार करने से एक प्रकार की सम्प्रदाय-शक्ति उलटी बढती ही है। मानव-जाति के हितैषी जो धर्म के नाम पर चलते हुए सम्प्रदायों से रुष्ट होकर मूल धर्म पर ही चोट करते है उतना जनकल्याण नही साध पाते जितनी अशान्ति और अव्यवस्था वे उत्पन्न कर जाते है। यह नही कि सम्प्रदायो मे मृत और जड वस्तु कुछ नहीं है जिसका परिहार करना होगा बल्कि यह कि जो जीर्ण और मृत है वह इसी कारण कि धर्म के मूलोद्गम से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है। शरीर का वह भाग जहाँ खून का दौरा नहीं होता मुर्दा हो जाता है और शरीर के स्वास्थ्य के लिए उसका अलग हो जाना जरूरी है। उसी तरह सम्प्रदाय की काया में भी जहाँ धर्म का शुद्ध रक्त प्रवाहित नहीं होता वह अंग स्वयं

गिर जाने के लिए ही है। लेकिन कोशिश तो यह करनी है कि मूल आत्म-स्रोत से धर्म-रक्त शरीर की शिरा-शिरा में प्रवाहित होता रहे। इस प्रक्रिया मे जीर्ण अपने आप क्षीण होकर झड जाता है और नई त्वचा उसकी जगह लेती है। आये साल वृक्ष नया चोला पहनते और हर वसन्त मे नया हरियाला रूप ले उठते है। यह अन्दर की प्राण-शक्ति से आप-ही-आप होता है। उसी तरह सम्प्रदाय यदि उनमे धर्म-श्रद्धा प्रवाहित रहे, सजीव बने रहते है और समष्टि की गति मे बाधक होने के बजाय सहायक ही होते हैं।

किन्तु शरीर आत्म-निमित्त होकर मन्दिर अन्यथा तो कब्र और समाधि के समान है, उसी तरह सम्प्रदाय भी यदि धर्मगत और धर्म-वश है तब तो वह श्लाघनीय अन्यथा अनावश्यक और विघ्नकारक ही है।

सम्प्रदाय धर्मगत है कि धर्म सम्प्रदाय-गत यही मुख्य प्रश्न है। सम्प्रदाय जहाँ प्रधान है और धर्म उसके अनुगत, वहाँ धर्म की जगह अधर्म और परमार्थ की जगह स्वार्थ होता हैं। जहाँ सम्प्रदाय यदि है तो केवल धर्म को धारण करने के निमित्त से, तो वह सम्प्रदाय व्यापक समाज-शरीर के अन्दर एक उत्पन्न उपयोगी अवयव हो जाता है जैसे कि हमारे देह के अन्दर हृदय।

ऐसे सम्प्रदाय का लक्षण यही है कि वह उत्तरोत्तर आत्मगुणी हो। आत्मा के स्वभाव के वर्णन मे जाने की आवश्यकता नही। वह मुक्त है, अव्याबाध है, आनन्दमय है। धर्म से तद्गत सम्प्रदाय भी अधिकाधिक तद्रूप होगा।

लोक-भाषा मे कहे तो वह सम्प्रदाय जो धर्मप्राण होगा, भोग-प्रधान नही होगा। सम्पत्ति की जगह तप, संग्रह की जगह त्याग, प्रभुता की जगह प्रेम और ऐश्वर्य की जगह विनम्रता को प्रतिष्ठित करने वाला होगा. उसमे अपरिग्रह का मान होगा, उसमें अपने धर्म के अहंकार की जगह दूसरों के धर्म के प्रति समादर जिज्ञासा का भाव होगा। वह सेवाभावी होगा और अधिकार के बजाय कर्तव्य पर उसकी निगाह

होगी। यह सम्प्रदाय जैसे शेष इतर सम्प्रदायों मे अपने को स्नेह और सेवा-भाव से घुला-मिला देने को उत्कण्ठित होगा। दूसरों मे पृथक और विशिष्ट होकर नही, बल्कि दूसरो के लिए अपने को उत्सर्ग करने की इच्छा रखेगा।

सप्राण और निष्प्राण व्यक्तियो, जातियो और राष्ट्रों में इसी जगह अन्तर देखा जाता है। जहाँ व्यक्ति की अवधि है वहीं मानो विच्छेद है। अपनी सीमा-रेखाओं पर जब हम अभिमान का परकोटा खींच रखते हैं, बाहर के प्रति विमुख और सशंक हो जाते हैं, मानना चाहिए कि वही धर्म की इति और वहीं से अधर्म का आरम्भ है। धर्मप्राण व्यक्ति या सम्प्रदाय कोई पृथकता की रेखा खींचकर उसमें बन्द होकर बैठ नही सकते। ऐसा तब ही होता है जब जीवन के बारे में शंका पैदा होती है और संसार के भोग या आकांक्षा जन्म लेती है। जबर्दस्त दुर्ग जहाँ हैं जान लेना चाहिए कि उसके अन्दर विलास-कुंज भी हैं—जहाँ भोग और विलास है वहीं चारो तरफ ऊँची दीवारें खींचने की कोशिश है। प्रकृति तो मुक्त है और वायु पर कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। आत्मा का भी वही स्वभाव है। इससे जो आत्म-धर्मी सम्प्रदाय हैं उनके द्वार बन्द नही हो सकते, बल्कि वहाँ तो द्वार ही नहीं है, जैसे कि सूरज की धूप खुलकर चारो ओर से आती है, अमुक द्वार से होकर नही आती।

पहले कोट होते थे, दुर्ग होते थे। उनके दरवाजो पर मोटे कील लगे होते थे, अबके मकान खुले होते है और उनके द्वार मानो निमन्त्रण देते जान पडते हैं। वह शंका का काल था यह विश्वास का जमाना है। धर्म का लक्षण श्रद्धा है, अन्दर प्रसन्नता रखकर जैसे यह हो नही सकता कि बाँटने की इच्छा न हो वैसे ही धर्म को अन्दर रखकर यह भी कैसे हो सकता है कि पडोसी को अपना जीवन बाँटने की इच्छा न हो। यह तो सम्पत्ति है जिस पर आदमी पहरा बिठाता है ताकि कोई बाँट न ले। धर्म होगा तो बाँटे बिना चैन न पडेगा।

सम्प्रदाय पहले भी हुए और अब भी नए-नए बन रहे है। सजीव सम्प्रदाय धर्म को घेरते नहीं, फैलाते हैं। धर्म उनकी बपौती नही, उनकी सम्पत्ति नहीं, बल्कि वह उनकी वेदि, उनकी व्यथा और उनका मिशन होता है उसको लेकर वे बैठ नहीं सकते। बल्कि उसके पीछे सब छोडकर उनको चलते ही रहना होता है।

ऐसे गतिशीलो का, त्यागियो का, व्रतियो का, सेवा-कर्मियो का सम्प्रदाय जो धर्म उत्पन्न करता है वह उस सम्प्रदाय को नहीं, बल्कि हर समुदाय और जाति को मुक्ति दिलाने मे सहायक होता है। यह सम्प्रदाय होता है जो सुख दूसरो को देने के लिए खुद दुख अपने ऊपर लेता है। यह दावा नही करता क्योंकि सेवा करता है।

ऐसा यदि नही है, यदि उसमें अपने सम्बन्ध में अभिमान और दूसरो के लिए अवज्ञा है उसमे स्थानिक प्रतिष्ठा का मान है और गृह-हीन अपरिग्रही सेवा कर्म की अवमानना है। जहाँ धर्म-संस्था सम्पत्ति-मूलक है और धनाढ्यता, सम्भ्रम और सत्ता का केन्द्र है, वहाँ निःसन्देह सम्प्रदाय, धर्म का अवरोधक है।

सम्प्रदाय धार्मिक ही नही राजनीतिक भी हो सकते है और होते हैं। हर सम्प्रदाय, यदि उनमे व्यवस्थाबद्ध एकत्रितता है, सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय इष्ट है यदि वह साम्प्रदायिक नही है यानी अपने को घुला-मिला देने की इच्छा से ओतप्रोत है। अनिष्ट है यदि उसको अपनी निजता का लोभ और अभिमान है।

सम्प्रदाय संख्या की दृष्टि से बडे होने के कारण इष्ट और छोटे होने के कारण हेय नही समझा जा सकता। राष्ट्र बडा है इस कारण उपा-देय नही, बल्कि है तो इस कारण है कि वह अपने को समष्टि के साथ तद्रस कर देना चाहता है। अन्यथा तो वह राष्ट्रीयता, जो इतर राष्ट्रों के विरोध पर फलती है, अशुभ ही है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि अनेक सम्प्रदाय है और निश्चित भौगोलिक सीमा-रेखाएँ उन पर नही है। राजनीतिक पार्टियाँ है जिन्हे सम्प्रदाय क्यो नही

कहा जा सकता ? फिर जैन, सिक्ख, पारसी आदि हैं इनमे प्रत्येक उसी अंश मे उपयोगी है जिस अंश मे उनकी श्रद्धा दूसरो से योग स्थापित करने और उनके हित मे काम आने मे तत्परता देती है। वही तक अनुपादेय हैं जिस हद तक कि उनमे साम्प्रदायिकता यानी अपने सम्बन्ध में आग्रह-शील पृथक् भावना और पृथक् स्वार्थ चेतता है।

अधिकांश कठिनाई यह होती है कि अपना सम्प्रदाय व्यक्ति को इतना सहज और उचित जान पडता है कि मानो वह तो सारी दुनिया के लिए ही हो और दूसरे का सम्प्रदाय सीमित और संकुचित जान पडता है। इस तरह हर उतना ही मतवादी (फिर वह मत धार्मिक हो कि लौकिक) दुनिया को मानो अपने उस विशिष्ट मतवाद के अन्दर लाकर सम्प्रदायहीन बना देना चाहता है और इस तरह शेष सब सम्प्रदायो को उद्बोधन देने बढता है। लेकिन जैसे कि यह किसी का वश नहीं है कि वह व्यक्ति न हो, अमुक कुटुम्ब या परिवार का सदस्य न हो, अमुक भौगोलिक देश, प्रान्त, नगर या जिले का रहने वाला न हो, उसी तरह यह भी सम्भव नहीं है कि वह अमुक सम्प्रदाय का न हो। अपनी सब सीमित निजताओ को खोकर समष्टि मे लीन हो जाने की भावना यों किसमे निहित नहीं है ? वही तो है मुक्ति और उसका स्वप्न उसकी परमाभिलाषा कहाँ अविद्यमान है ? किसी मे कम जगी है किसी मे अधिक। पर व्यष्टि और समष्टि मे विरोध तो नहीं है, न व्यष्टि और समष्टि के बीच दूसरी कल्पनाओ (समुदायों, सम्प्रदायो, जातीय राष्ट्रो आदि) को असत् ठहराने की आवश्यकता है। एक के इनकार पर दूसरे को सिद्ध करने की कोशिश व्यर्थ ही है। व्यक्ति सारे विश्व के साथ ऐक्य अनुभव करने के लिए उसको निजता देने वाले शरीर को काटकर नहीं फेंक सकता। तन से साढ़े तीन हाथ ही वह रहने वाला है फिर कोई उसे नहीं रोकता कि मन से वह सारी सचराचर सृष्टि के साथ आत्मीयता का अनुभव कराए। तन की सीमितता से आत्मा और मन सीमित न हो तो ऐसी तन की सीमा भी भूषण होती है, ठीक इसी

तरह सम्प्रदाय की स्थिति माननी चाहिए। अमुक सम्प्रदाय में रहकर यदि शेष से उसकी विमुखता हो जाती है तो वह साम्प्रदायिकता अधार्मिक है लेकिन हिन्दू बनकर मानव-मात्र, जीवन-मात्र का बन्धु और आत्मीय बनने में न केवल कोई बाधा नहीं आती है बल्कि व्यक्ति जागरूक हो और श्रद्धा सच्ची हो तो सहायता ही मिलती है। ऐसे व्यक्तित्व का हिन्दुत्व दूषण नहीं भूषण ही है, यही इतर धर्मों और सम्प्रदायों के बारे में मानना चाहिए।

सम्प्रदाय का बाहर का द्वार दुनिया की तरफ है अन्दर का आत्मा की तरफ है। उस द्वार से अगर वह अपनी आत्मा को जगत् के प्रति दान करता है तो वह अपने को सिद्ध करता है और अगर उसको दुनिया ही में से खींचकर अपने अन्दर इस तरह ठूँसता है कि वहाँ आत्मा बेजान और बेमान हो जाय तो निश्चय वह सम्प्रदाय अपहरण करता है।

अन्त में कहना होगा कि हर एक सम्प्रदाय जी सकता है बशर्ते कि वह अपने जीवन को दूसरे के लिए समझे और होमे। संक्षेप में वह धर्मगत हो, साम्प्रदायिक न होकर धार्मिक हो, लेकिन सम्प्रदाय जब कि स्वयं धर्मगत न होकर धर्म को सम्प्रदायगत बनाता है तब वह निश्चय ही एक स्थापित स्वार्थ का स्वरूप होता है। इस अवस्था में वह जगत् की समस्या को और उलझाता है और उसमें गाँठ और पेच पैदा करता है।

समुदायगत धर्म स्वार्थसाधन का, बहाना है लेकिन धर्मगत समुदाय एक सहयोगियों का वर्ग है जो कि जगत् को सहयोगी जीवन के लिए अनुकरण का आधार दे सकता है। वह स्थापित स्वार्थ नहीं है जैसे कि एक अनासक्त वीतरागी पुरुष को लेकर एकत्रित हो उठी एक संस्था स्थापित स्वार्थ नहीं है।

धर्म और संस्कृति

इधर धर्म शब्द का महत्त्व कम हो रहा है और संस्कृति शब्द की लोकप्रियता बढ़ रही है। धर्म अनेक है और उनमे अनबन देखी जाती है। उनके पण्डित आपस में विवाद में उभ्कलते हैं और उनके अनुयायी अपने अलग-अलग शास्त्र-सूत्रों को लेकर परस्पर लड़ते-झगडते हैं। यह दृश्य किसी के लिए रुचिकर नहीं है। हमारे पास साधनों की जो प्रचुरता होती जा रही है, उससे दूरी को टिकने के लिए अवकाश नही छूट रहा है। सब कोई आसपास आते जा रहे हैं। अपने को अलग-अछूता रखने की सुविधा मिट रही है। देश की, जाति की, भाषा की और इस तरह की अनेक भिन्नताएँ भी जैसे अब सहारा नहीं होतीं और उस सबके बावजूद हम एक ओर इकट्ठे बनते जा रहे हैं। विज्ञान ने ऐसे अचरज पैदा कर दिए हैं कि इस कोने मे बैठे हम दुनिया के हर कोने से सम्बन्ध रख सकते हैं। इस ओर से किसी भी छोर के आदमी से बातचीत कर सकते है। ऐसी हालत मे वह शब्द जो अपने मे बन्द पडकर ही सार्थक बनता है, आज के काम के योग्य नही रहता। धर्म आज कुछ ऐसा ही शब्द बन गया है। धर्म, सब मानेंगे, भीतर से बहुत अच्छी चीज है। लेकिन धर्म जब अपने अनुयायियों को मिलाता है, तब दूसरों को परे रखने में वह सहायक भी हो जाता है। धर्म अनेक हैं और उनकी अनेकता के कारण संघर्ष होते आए हैं। कभी तो

ये संघर्ष बड़े अमानुषिक और बीभत्स तक हो गए हैं। प्रत्येक धर्म की कोशिश रही है कि वह धर्मों की अनेकता को इस तरह मिटाए कि खुद सार्वभौम एकच्छत्र बन उठे। इस एकता के मनोरथ को लेकर एक धर्म ने अन्य अनेक धर्मों पर प्रहार किए और उन पर विजय साध लेनी चाही है। धर्म के साथ इसीलिए विचार और वाद की एक जड़ता और कट्टरता का बोध होता रहा है। निश्चय ही कट्टरता से और कट्टरता उपजी है, कटी नही है। इसी तरह अनेकता को नष्ट करने की स्पर्धा ठानकर एक विशिष्ट रूपाकार की एकता को प्रतिष्ठित करने के आग्रह मे से अनैक्य बढ़ा ही है, घटा नहीं है।

समय था जब इस प्रकार का आग्रह उपयोगी समझा जा सकता था। लेकिन इतिहास में से जीवन विकास पाता गया है और हिंसा से हम अहिंसा की ओर बढ़ते आए है। पहले जो शौर्य था, अब तमाशा बना देखा जा सकता है। मत और वाद का लाठी के जोर से होने वाला प्रचार अब कुछ उपहास्य बन गया है। अच्छी-से-अच्छी चीज़ को अब मानो यह सुभीता नही कि वह हठात् अपना आरोपण करे। स्वतन्त्रता सबका अधिकार आ बना है, जिसका अर्थ है कि दूसरे पर हावी होने का किसी को अधिकार नहीं रह गया है। प्रहार की स्वतन्त्रता तो पशु की होती है, प्रेम की स्वतन्त्रता मनुष्य की विशेषता है—यानी यह मनुष्य का ही हक है कि कोई उस पर प्रहार करे, तो बदले में वह प्रहार न दे, प्रेम दे। स्वतन्त्रता का यह रूप मनुष्य को अब उत्तरोत्तर उपलब्ध होता जा रहा है।

काल का इतिहास हिंसा से अनिवार्य रूप से हमें अहिंसा की ओर बढ़ाता आया है, यह तथ्य कदाचित् सहसा कुछ लोगो को मान्य न होगा। एक-से-एक भीषण युद्ध की फसल हम बोते और काटते चले आ रहे है। युद्ध वे उत्तरोत्तर इतने विराट् और व्यापक होते जा रहे हैं कि पहले की कल्पना तक वहाँ न पहुँचती थी। आधुनिक शस्त्रास्त्रो के मुकाबले मे प्राचीनता के पास भला क्या था? अणु-बम और उद्जन-

इसी तरह असामाजिक होकर धर्म की स्थिति नहीं रहती। किन्तु अनेक बार ऐसा होता था कि धर्म को लेकर व्यक्ति अपने समूचे दायित्व को अपने ही प्रति इस तरह मान उठता था कि समाज के प्रति वह दायित्व-हीन बन जाता था। ऐसे धर्म गुत्थियों और ग्रन्थियो की सृष्टि करने मे कारण बन जाता था और परिणाम मे सामाजिक विषमता उत्पन्न होती थी। इस विषमता को लेकर तो मानव-चेतना का विकास सध नही सकता था। इसलिए धर्म के नाम पर जब मानव-चैतन्य की हानि होती देखी गई, तो दूसरे शब्दो मे धर्म के नाम पर अधर्म की ही प्रतिष्ठा हुई, तब उस धर्म शब्द का महत्त्व घटने लगा। चहुँ ओर फैलती हुई मानव-सहानुभूति ने धर्म शब्द का सहारा छोडा और उसके लिए दूसरे शब्द की आवश्यकता हुई। 'संस्कृति' वही शब्द है।

संस्कृति मे स्पष्ट ही सामञ्जस्य की ध्वनि है। किसी अवस्था मे भी विग्रह के समर्थन के लिए वहाँ अवकाश नही है। बढता जाता हुआ आपसी भाव—ऐक्य-भाव—उसका सार इष्ट है। कहीं वृत्त वहाँ बन्द नहीं होता। आत्म के लिए आत्मोपमता के भाव को बढाते जाने का सदा ही अवकाश है। मै आत्मा हूँ, यहाँ से आरम्भ करके सब-कुछ मुझे आत्मीय है, इस सिद्धि तक साधनार्थी व्यक्ति को बढते ही जाना है। आत्म की धारणा पर स्वयं मे बन्द होकर आत्म-हत्या तो हो सकती है, आत्म-मुक्ति नहीं हो सकती, मानो सस्कृति मे यह चेतावनी है। संस्कृति का मुख किसी आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर नहीं है, वह तो बाहर की ओर खुलकर फैली हुई निखिलता के प्रति है। संस्कृति यदि कुछ है, तो सामाजिक है। किसी भी बहाने असामाजिक, समाज-विरुद्ध या समाजातीत होने की अनुमति उसमे नही है।

निश्चय ही संस्कृति की माँग से कोई धर्म अथवा मतवाद स्वतन्त्र नही हो सकता। अपना कहकर किसी धर्म मे आदमी को यह छूट नहीं दी सकता कि वह दायित्वहीन और उच्छृङ्खल व्यवहार करे। स्वधर्म-पालन पर संस्कृति की ओर से एक मर्यादा आयगी ही। मेरा धर्म मुझे

दूसरों के प्रति नम्र न बनाकर उद्धत बनाये, तो वह सहा नहीं जा सकेगा। धर्म का सम्बन्ध चरित्र और व्यवहार से छूटकर जब मत-मान्यता से अधिक हो जाता है, तब स्पष्ट ही मानव-संस्कृति को आकर उस मत-मान्यता से धर्म का परित्राण करना होता है। हम देखेंगे कि मत-धर्म और मानव-धर्म में यह संघर्ष सदा ही विद्यमान रहा है। जो धर्म को मतवादिता के द्वारा पकड़ते हैं, वे उस रीति से धर्म को जकड़ते और अपने को भी जकड़ते हैं। दूसरे वे हैं, जो सहानुभूति से उसको स्वीकार और अंगीकार करते हैं। ऐसे दो प्रकार के लोगों में संघर्ष रहता आया है। सन्त-महात्माओं को सदा पंडितम्मन्यों के हाथों यातनाएँ भुगतनी पड़ी है। धर्म जिनके लिए सम्पत्ति के अर्थ में स्वत्व बन आया है, उनको कालगति के साथ चलने में कठिनाई हुई है। ऐसे सम्प्रदाय-धर्म और मानव-धर्म के बीच में तनाव और विग्रह होता रहा है।

धर्म का यह अपलाप देखने में आता है, इसलिए संस्कृति शब्द का सहारा यदि लिया जाय और अपनी अन्तस्थ सहानुभूति का उत्त-रोत्तर विस्तार साधते चला जाय, तो यह युक्त ही है। फिर भी उस धर्म शब्द का बहिष्कार उचित न होगा। कारण, नितान्त सामाजिक होकर व्यक्ति समाज के प्रति अपना दायित्वपूर्ण नहीं कर पाता। समाज का अनुगत होकर चलने मे समाज का ही सच्चा हित नहीं है। अनु-गति में आत्मदान की पूर्णता नहीं है। जो समाज के हित मे आत्म-भाव से समर्पित है, उसे समाज का बन्दी होने की आवश्यकता नहीं है। वह समाज का सहयोगी है और आवश्यक होने पर वह उसका नेता भी हो सकता है। नेता का मतलब है साथ होकर भी एक कदम आगे चलने वाला। यह जो एक कदम आगे होकर चलने की बात है, वह निरे सामाजिक आदर्श से पूर्ण नहीं हो सकती। इसके लिए सामा-जिक से कुछ उच्चतर आदर्श की आवश्यकता होगी।

आधुनिक लौकिक दर्शन-वादों के लिए समाज जैसे परिधि बन

गया है। जो दर्शन समाज से घिर जायगा, वह समाज को फिर उठा कैसे पायगा ? इसलिए आदर्श को या लक्ष्य को समाज की सीमा में नही बाँधना होगा। उसे कुछ ऐसे व्यापक भाव मे ग्रहण करना होगा, जिसका सत्य समाज मे समाप्ति न पा जाय, बल्कि वह उससे अन्यत्र और अतीत होकर भी संगत और सिद्ध रहे। यानी एक सर्वान्तर्व्यापी सत्ता से उसकी अन्विति हो।

संस्कृति शब्द इसी अपेक्षा में कुछ अपर्याप्त रह जाता है, मानो मानव-सम्बन्धों तक उसकी व्याप्ति है, मानवेतर सत्ता के प्रति उसकी पहुँच नहीं है। सूरज, चाँद और रात को चमक आने वाला नक्षत्र-मण्डल—इस सबके प्रति मनुष्य का जो विस्मय-विमुग्धकारी सम्बन्ध है, उसका समावेश संस्कृति में नहीं होता। इस लिखित ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस परम सत्ता से संस्कृति की कुछ पहचान नहीं है, जो अलख निरंजन है, जिसके बिना दूसरा नहीं है, जो स्वयं है और शाश्वत है, जो शुद्ध, अन्तिम, परम और अखण्ड सत् है।

यह स्पर्धा तो धर्म की ही है। इह लोक पर वह अटका नहीं है और खुलकर वह पारलौकिक है। समाज नहीं, समष्टि उसे इष्ट है। जीवात्म को अपने द्वारा उसे परमात्मत्व देना है, खंड को अखंड करना है और अंश को सम्पूर्ण की ज्योति मे ज्योतिष्क। निःसन्देह धर्म आत्मिक ही हो सकता है। आत्मिक होने मे ख़तरा है। आत्मिक सामाजिक नहीं भी है। लेकिन यह खतरा ही उसकी कीमत है। आत्मिक निश्चय ही सामाजिक से सत्यतर है, पूर्णतर है। उस आदर्श में व्यक्ति सर्वथा निस्व और मुक्त हो सकता है। समाज मे निजता बँध ही सकती है, खुलेगी वह पूरी तरह समष्टि में ही। सामाजिकता में व्यक्ति की निजता सदा ही अनेकता में उस एक की गिनती बढ़ाने वाली रहती है। आत्मिकता ही है, जिसमे अन्ततः उसकी गिनती भी नहीं रह जाती। वह सर्वथा शून्य बनता और इस तरह अनेकता को सच्ची एकता देता है। व्यक्ति की सम्पर्ण मुक्ति, जहाँ उसकी कृतार्थता किसी प्रकार भी उसकी ओर

सिमटती नहीं है, बल्कि चहुँ ओर खुलती और फैलती ही जाती है, यदि है, तो उस धर्म मे, जो आत्मिक है; उस संस्कृति में नहीं, जो निरी सामाजिक है।

इसलिए प्रचलित धर्मों की अनेकता और विग्रह-विवाद आदि की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी धर्म शब्द की मूलभूत आवश्यकता से छुट्टी नहीं ली जा सकती। संस्कृति शब्द उसकी जगह नहीं भरता। संस्कृति में से हम मानवेतर जगत् के साथ समस्वरता नहीं प्राप्त करते। चराचर जगत् को जो एक नियम धारण कर रहा है, उस के साथ तादात्म्य का बोध उस शब्द में नही समा पाता। जगत्-गति मे एक लय-ताल है, सब कहीं एक आनन्दोल्लास की लीला है। धर्म-मूल मे जैसे उसी सच्चिदानन्द की खोज है, उसी में तद्गत होने का प्रयास है, निजता को निखिलता से मिला देने की साधना है। संस्कृति इस परम पुरुषार्थ से विलग या विच्छिन्न होकर नहीं, आधार मे उस को स्वीकार करके ही सार्थकता प्राप्त कर सकती है।

दो शब्द

दो शब्द इधर बहुतायत से सुनने में आने लगे हैं जैसे वे अनिवार्य हों। शब्द अंग्रेज़ी के हैं; पर आज हिन्दुस्तान मे वे खासे चलते हैं। देशी उल्था उनका कोई उतना ठीक नहीं बैठता। कारण तद्गत भेद-भाव शायद देशी नहीं है।

वे शब्द हैं · रीयलिज़्म और आइडियलिज़्म। उनके अनुवाद बन गए हैं—यथार्थवाद और आदर्शवाद।

मुझे कुछ ठीक पता नहीं चल सका है कि इन शब्दों की क्या सीमाएँ हैं। कोई किसी अर्थ में उन्हे प्रयोग करता है, दूसरा दूसरे अर्थ में। इससे सफ़ाई के बजाय कुछ उलझन बढती है।

एक बार सुन पड़ा कि कहानियाँ लिखने में जैनेन्द्र यथार्थवादी है। आदर्श की रक्षा वहाँ नहीं है। जिन्होने यह कहा, भरी सभा में और निश्चय-पूर्वक कहा था।

दूसरी जगह बताया गया कि यथार्थ की रक्षा जैनेन्द्र की कहानियों मे बिल्कुल नहीं हो सकी है। वहाँ कोरा आदर्शवाद है। यह कहने वाले भी दृढता से कह रहे थे और विवाद के लिए प्रस्तुत थे।

दोनों विज्ञ। टालें तो किसे? ग़लत वे थे नहीं; क्योंकि विज्ञ थे उनके ढंग से मालूम होता था कि वह जानते हैं कि वह सत्य भाषण कर रहे हैं। किसी को मौका नहीं है कि कहे कि दोनों में से कोई असत्य कह

सकता है। पर विज्ञों के बीच होकर मुझ-सा अज्ञ क्या करे ? अज्ञ की बड़ी विपदा है। क्या वह उन शब्दों को कानों पर से होता हुआ कोरा निकल जाने दे ? यह तो विज्ञता की अवज्ञा होगी। तो क्या उन शब्दों से आतंकित होकर मूढ से मूढ़तर हो जाय ? ऐसा करे तो निज की ख़ैर नहीं। फिर वह यथार्थ और आदर्श के भेद को और अभेद को लेकर करे तो क्या ? अपरिचित शब्दों से भरे वाक्-सागर में वह तो वैसे ही डूबता-सा मालूम होता है। तिस पर जब विज्ञ-जन झगड़ने लग जायँ, तब वह तिरता रहे तो किसका सहारा थामकर ?

रीयल क्या ? और आइडियल क्या ? रीयल की हिन्दी यथार्थ है और आइडियल की आदर्श। सो वह यथार्थ और आदर्श क्या, इसकी कुछ टटोल करनी चाहिए। उसके बाद उनके 'इज़्म' यानी वाद फिर अपनी परवा स्वयं कर लेंगे।

असल में शब्द को बहुत ऊपर ले जायँ तो वे अपने से भी ऊपर जा सकते हैं। कहते हैं कि सृष्टि के आदि मे था शब्द। वह जो हो; लेकिन मामूली तौर पर शब्दों को उठाकर व्यवहार के तल से ऊँचा नहीं ले जाना चाहिए। जहाँ वे अपने से ही ऊपर उठ जाते हैं, वह होता है काव्य। वहाँ शब्द के शब्दार्थ नहीं, उसके ध्वन्यर्थ से प्रयोजन होता है। लेकिन काव्य है अतर्क्य। समझ अतर्क्य नहीं हो सकती। इससे जहाँ समझ की बात की जा रही हो, वहाँ शब्द को उसी तल पर रखना चाहिए जिस तल पर कि बोल-चाल मे उसे समझा जाता है।

यथार्थ नाम सत्य का भी हो सकता है, पर जिसमे वाद लगा हुआ है, उस यथार्थ का मतलब शायद इतना विस्तृत होने के लिए नहीं है। वहाँ तो मानो अर्थ जिसकी सीमा है, वही है यथार्थ !

सामने मेज़ रखी है, एक कुर्सी भी रखी है। वे नप सकती हैं, तुल सकती हैं। उनकी कीमत में तुलना हो सकती है। उनका उपयोग हम को मालूम है। इससे मेज़ और कुर्सी हुई यथार्थ।

कुछ शायद उस यथार्थ शब्द के प्रयोग में यह भाव है कि उन मेज़

और कुर्सी के बारे मे दो आदमी दो राय नही रख सकते। दो मत वे रखेंगे भी, तो झट फैसला किया जा सकता है कि यह तो ग़लत है और वह सही है। एक ने कहा कि मेज़ शीशम की है। दूसरे ने कहा कि सागौन की है। या एक ने पचीस रुपये और दूसरे ने तीस रुपये उसकी कीमत बताई। तो मेज़ की यथार्थता दो में से एक को इस तरह सही साबित कर देगी कि दूसरे को अपनी गलती माननी ही होगी।

यह हुआ यथार्थ। यानी जिसकी यथार्थता निश्चित मान के पैमानों में आ सके। जहाँ तक यह सम्भव है, वही तक यथार्थ की यथार्थता खिच सकती है।

पर जहाँ यह सम्भव नहीं है, वहाँ?

यह तो साफ़ है कि पैमाने किसी वस्तु को नाप कर ख़त्म नहीं कर सकते। यानी उसे सब तरफ़ से पूरी तरह नही नाप सकते। वस्तु की अगणित सम्भावनाएँ हैं जो पैमानो की पकड मे नही आती। इस तरह हरेक ही चीज़ नाप-तौल के बाहर भी रह जाती है। नाप में वह नही, हमारी बुद्धि नपती है।

मेज जब तक मेज़ है, तब तक तो बहुत आसान चीज़ है; लेकिन जब उसकी विशिष्टता मे न देखकर उसकी साधारणता मे उसे देखना चाहते है तो, मालूम होता है कि मेज़ उतनी सरल-सी चीज नहीं है। उस निगाह में मेज जरा देर में मेज़ तक ही नहीं रहती। वह लकडी हो जाती है, लकडी पदार्थ हो जाती है, पदार्थ तत्त्व हो जाता है। और इस तरह जो अभी मेज़ थी, देखते-देखते वह एक अणुओ का स्कन्ध बन जाती है। और आगे चलें तो कुछ नही रहता। मेज़ हम ही हो जाते हैं!

इस मेरे कहने में कोई ज़्यादती आप न मानें। ठीक इस वक्त भी लोग हैं जो मेज़ को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग अर्थों मे लेते है। कारीगर की आँख उसकी कारीगरी पर है, मेज़-मालिक की आँख उसकी तात्कालिक उपयोगिता पर है और एक वैज्ञानिक की आँख मेज़ पर

होकर भी उन दोनों से कहीं अलग ही जगह है। मेज़ की बाज़ारू क़ीमत तय हो और एक हो; पर हरेक के लिए उसकी निजी कीमत एक नहीं है अलग-अलग है।

इस दृष्टि से तो यथार्थ और उसकी यथार्थता स्वयं ही सापेक्ष वस्तु हो जाती है। लेकिन यथार्थ को आपेक्षिक मानें तो यथार्थवाद शब्द ही मानो बेकार पड जाता है। यथार्थवादवाला यथार्थ तभी तक है, जब तक वह निश्चित है। पर निश्चित कुछ है नहीं। इससे यथार्थ भी कुछ है नहीं। अर्थात् हरेक यथार्थ ठीक उसी क्षण आदर्श भी है।

पर शंका होगी कि जिससे बचना चाहते थे, ऊपर के वाक्यो मे कहीं उसी अथाह मे तो हम नहीं गिर गए? पहले कहा था कि शब्दो को बहुत ऊँचे उठाकर हम नहीं देखेगे। वह बात हमे याद रखना ज़रूरी है कि शब्दो के सत्य की मर्यादा को देखने के लिए शब्दातीत सत्य की पीठिका को एकदम ओझल न होने देना होगा।

इस तरह हम बेखटके यह कह सकते है कि इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण हो सकने वाला पदार्थ का रूप यथार्थ है। उससे आगे जो रह जाता है, वहाँ यथार्थ की गति नहीं, सो उसे आदर्श कहा जाता है। आदर्श संभाव्य वास्तविकता है।

इस भाव मे शरीर यथार्थ और आत्मा आदर्श। इसलिए नहीं कि शरीर कुछ है, और आत्मा कुछ और है। यों तो शरीर और आत्मा मे भेद हमेशा से माना जाकर भी कभी होने में नहीं आया। फिर भी शरीर को आत्मा-पूर्वक मानना होगा और आत्मा को साधने के लिए शरीर का भी स्वास्थ्य साधना होगा।

पर शरीर दीखता है, इससे शरीर है। आत्मा नही दीखता, इससे आत्मा है।

शरीर का विकास आत्मा की ओर है; क्योंकि शरीर की अपनी ही असली निजता का नाम आत्मा है।

शरीर द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा धर्म है।

आत्मा की अशरीरी प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यानी, जो तेज व्यवहार के तल पर भी तेजस्वी नहीं है, वह आत्म-तेज नहीं है।

और जो निरा शारीरिक है, उसमे शरीर की भी सफलता नहीं है।

इसी के अनुरूप यथार्थ और आदर्श मे परस्पर सम्बन्ध हो सकता है और होना चाहिए।

यथार्थ जड-स्वरूप है, यदि वह प्रतिक्षण आदर्शोन्मुख नहीं है।

आदर्श हवाई है यदि वह प्रतिक्षण यथार्थ को उभार नहीं दे रहा है।

यथार्थ अर्थात् प्राप्त। आदर्श अर्थात् अप्राप्य। प्राप्त में यदि कुछ अर्थ है तो तभी जबकि उस पर अप्राप्य का खिचाव भी है। नहीं तो उसका आनन्द नष्ट हो जाता है। आनन्द स्वयं स्पन्दनशील तत्त्व है। वह गति की निरन्तरता मे है। इससे आनन्द प्रयत्न मे है, न कि फल मे। और प्राप्त की उपयोगिता तभी तक है जब तक अप्राप्य की ओर प्रयत्न जारी है। वह प्रयत्न जितना ढीला है, प्राप्त का आनन्द भी उतना ही स्खलित है।

अर्थात् यथार्थ की यथार्थता आदर्श की ही परिभाषा में समझी जा सकती है। आदर्श की भूमिका यदि नहीं है तो समूचा यथार्थ माया-जाल हो जाता है। बेशक जगत् मिथ्या है, अगर वह ईश्वर (सत्य) के विमुख होकर प्रतीत होता है। और तब तो उसके त्याग मे ही सत्य का लाभ है।

इस सिलसिले में हम यह भी देखें कि प्रत्येक प्राप्ति का प्रयत्न प्राप्त का त्याग है। बिना त्याग गति नहीं। पैर जहाँ है, आगे बढ़ने के लिए उस जगह को छोड़कर पैर को उठना ही होगा। अगर पैर अपने स्थान को पकड़ रहता है, तो वह निकम्मा है। कहना चाहिए कि वह पैर-पैर नहीं है। उसमे चलने की शक्ति नहीं रही। और उस पैर के स्वामी का अगर जीवित रहना है, तो उस पैर से उसे छुट्टी ले लेनी होगी।

भोग का यही मतलब है। उसमे हम प्राप्त से चिपटते हैं, और

त्याग से बचते हैं। पर गति है त्याग। और भोग है आराम। आराम को यदि इजाज़त है तो इसीलिए कि उससे गति की शक्ति बढ़े। अन्यथा आराम मौत है। त्याग द्वारा भोग को यदि भोगा जा सके तो ठीक। नहीं तो भोग विलास है। उसमें राग रुकता है और चेतना में गाँठ पड़ती है।

मै सड़क पर जा रहा हूँ कि किनारे खड़ी मिली आठ मंज़िल की एक पर्वताकार बिल्डिंग। राम-राम, इतनी ऊँची, इतनी ठोस, कि क्या बताऊँ। एक-एक पत्थर है उसका शिला सरीखा। मेरे सिर के ऊपर वह बिल्डिंग ऐसी डटी खड़ी मालूम होती थी कि नीचे चलता हुआ मैं मानो कुछ हूँ ही नहीं। उसकी विशालता पर मन को कुछ हौल-सा लगा। जैसे मैं दबा जाता होऊँ।

यह यथार्थ की महत्ता है।

और अभी हाल यहाँ पुलिस-विभाग की ओर से एक भारी पहलवानो का दंगल कराया गया था। दूर-दूर के नामी पहलवान आए थे। शहर में से उनका वह ठाठ का जुलूस निकला कि क्या बात। बाजार में तब वे जहाँ-तहाँ दीख पड़ते थे। मानो साकार भीम हों। वह सीने, वह ज़बरदस्त भुज-दण्ड, वह डील और डौल कि देखिए तो देखते रह जाइए! महीन कुरते के भीतर से उनकी कसरती देह का वैभव मानो फूटा पड रहा था। एक-से-एक वह बाँका-तगडा जवान था कि तस्वीर के लायक। यह भी यथार्थ महत्व है।

लेकिन सुनिए। उस किले-सी बिल्डिंग के मालिक है एक सेठ, जो देह मे मुझसे कम हैं। अक़्ल मे तो ज़रूर ही ज़्यादा होगे; क्योंकि सेठ हैं। मालिक से नही जानता कि क्या मतलब लेना चाहिए। यों तो हाथ से वह एक ईंट नहीं उठा सकते। रोटी का कौर उठाते उनके हाथ काँपते हैं। फिर भी, मानो जादू से उस पहाड-से दैत्य के भाग्य की कुन्जी उनके हाथ है। वह सेठ कुछ सनकी आदमी है। सनक पर लाखो उडा दिए हैं और उड़ा सकते हैं। सो आप समझिए कि वह लाखो टन

की पर्वत-सदृश कायावाली हवेली सेठ की सनक पर खडी है। उठे सनक, कि वह इस हाथ से उस हाथ ही नहीं हो सकती, बल्कि एक-दम भूमिसात् हो सकती है! उस सारी भीमकायता की कल है उस सनकी-से आदमी के सेठ होने और हो सकने मे। यह है लाखों टन के ईंट-पत्थरवाले यथार्थ की यथार्थता। उससे भी आगे जायँ, तो उस यथार्थता मे और भी विचित्र भेद निकलेंगे। कहीं बदल जाय विनिमय की दर, या मानो समाज की रचना और हमारे खयाल ही बदल जायँ तो हमारे सेठ का सेठपन भी एकदम ग़ायब हो जाय। और कारोबार सब चौपट दीखे। तब फिर क्या हो जायगा उस पथरीली हवेली का नसीब? कौन जाने। यह है यथार्थ की महत्ता का सार।

और उन बडे-बडे पहलवानो की हक़ीक़त भी देखिये। चले आ रहे हैं, दूर से, ऐसे मस्त कि वाह! जाने वही हो, शेष हो हेच। लेकिन पीछे मालूम हुआ कि दंगल मे कइयो को तो एक ज़ीन की लँगोटी जंट साहब की धर्मपत्नी ने इनाम मे दी थी और आने-जाने का ख़र्च भी मिला था। और हाल यह भी देखा गया कि साहब के बंगले का चपरासी दसियों पहलवानो को एक साथ इधर-से-उधर खदेड रहा था। सो यह उस दूसरे यथार्थ के महत्त्व की यथार्थता!

फिर भी यथार्थ को कोई कम न माने। आपमे से कोई उस पत्थर की बिल्डिंग के कोने से अपना सिर टकराकर या कि पहलवान से बद-कर देख सकता है। मै विश्वास दिला सकता हूँ कि आप मे से किसी की उस मुकाबले मे खैर नहीं है। इससे उन दोनों की यथार्थता अपनी जगह पर होकर इस लेख की यथार्थता से कहीं बढकर है, यह असंदिग्ध सत्य है। उसे चुनौती देना संकट बुलाना होगा।

पर हम देख लें कि हरेक यथार्थ के व्यक्त रूप के भीतर कुछ और अव्यक्त यथार्थता निवास करती है। व्यक्त की हद है, अव्यक्त का पार नहीं। जहाँ तक हम जाते जायँ, उससे आगे भी जाने का अवकाश है। यथार्थ की यथार्थता मे तह-पर-तह है। छीलते जाओ, छीलते जाओ,

और भी छीलते जाओ। थक तुम्हीं जाओ तो जाओ; यथार्थता एक कण की भी नहीं चुकेगी। अतः हद हममें ही है, यथार्थमात्र बेहद है।

इस तरह जो दीखता है, उसका भरोसा नहीं किया जा सकता। क्यों कि हम सब नही हैं। हमारी आँखें समूचेपन को देखकर खत्म नहीं कर सकतीं। फिर हमारे ही पास चाम की आँखें है, तो उसके आगे बुद्धि की आँखे भी है और मन की आँखें भी हैं। सब आँखो का यथार्थ अलग-अलग है। आँखो से स्थूल दीखता है, लेकिन मन सूक्ष्म भी अनुभव करता है। आँख पर अपना बोझ डालकर चलनेवाली बुद्धि मन के अनुभव को आदर्श कहकर अ-यथार्थ ठहराने की कोशिश कर सकती है। लेकिन हमने जान तो लिया कि यथार्थता की हद कहीं खिची हुई नहीं है। साबित कर देने या साबित न कर सकने मे ही सचाई का खात्मा नहीं है। झगडा अहंकार मे ही सम्भव है। और जहाँ दो बुद्धियाँ झगडती है, वहाँ खेल अहंकार का है यह निश्चित मानना चाहिए। झगडा यथार्थ और आदर्श में नहीं है। असल में वह कहीं भी नहीं है। झगडे का बीज सदा मन की खोट में है।

लेकिन प्रश्न होगा कि तो क्या सब झूठ सच है और सब सच झूठ? क्योकि अगर यथार्थ के नाम पर यथार्थ हम किसी को कह हा न सकें और सब तरह का अ-यथार्थ (मिथ्यात्व) आदर्श के नाम पर चलने दिया जाय, तो क्या ऐसे कुछ भी काम चल सकता है?

बेशक, नहीं चल सकता। और काम को जरूर चलना चाहिए। काम के रुकने के हम पक्ष में नहीं है। लेकिन यथार्थ के सम्बन्ध मे आग्रह छोड देने से सब काम रुकने की नौबत आ जानी चाहिए, यह हमारी समझ में नहीं आता। अगर मै किसी दूसरे को गलत साबित करने का पेशा नहीं पकडूँ, तो इस तरह जगत्-कर्म मे कौन-सी त्रुटि उपस्थित हो जायगी; यह मुझे स्पष्ट नही होता है।

हाँ, कुछ तो ज़रूर कमी होगी। वह यह कि बुद्धि-जीवी विद्वानों को (और बुद्धि से कौन रीता है!) अपने समर्थन और गर्व का मौक़ा

शायद उस तरह कुछ कम रह जायगा। लेकिन मैं तो समझता हूँ कि यह उपकार की ही बात होगी। काम का जहाँ तक मतलब है, वहाँ तो यह बड़े काम की बात होगी। बहस कम होगी; लेकिन इस तरह असल काम तो बढ़ेगा ही। विद्वान्-लोग विद्वत्ता के अलावा भी कुछ काम करने को तब ख़ाली हो सकेंगे। विद्वान् के साथ तब वह मेहनती भी हो सकेंगे।

इसलिए अ-यथार्थ दीखने वाले सभी-कुछ को आदर्श शब्द के अन्तर्गत रहने देने की इजाज़त से और चाहे कुछ हो, कर्म की हानि तो हो नहीं सकेगी। और यदि उससे काम में गड़बड़ पड़ने की सम्भावना है भी तो तभी जब कोई दूसरे के आदर्श को अपने यथार्थ से नापेगा, और अपने आदर्श का आरोप दूसरे पर करना चाहेगा। सब अपनी बुद्धि के अधिकारी होने के कारण दूसरे की बुद्धि के अनधिकारी होंगे। इससे असंख्य यथार्थ और असंख्य आदर्श होने से भी बाधा नहीं होगी।

यह हमारे सामाजिक प्रश्नों के समाधान के लिए मूल दृष्टि होनी चाहिए। सबका स्वत्व अखंडित रहे। आतंक असम्भव हो जाय। धन का आतंक, बुद्धि का आतंक, पद का या शक्ति का आतंक। आतंक सब एक-से हैं। वे विकास को रोकते हैं। जब कोई अपनी बात दूसरे से मनवाना ही चाहता है तब मानो वह दूसरे की बुद्धि को आतंकित करना चाहता है।

'यथार्थ' और 'आदर्श' इन शब्दों का प्रयोग करके अपने पक्ष को पुष्ट और दूसरे पक्ष को हीन दिखलाने की कोशिश आतंकहीन नहीं कही जा सकती। वह विवेक की और विज्ञान की पद्धति नहीं है। वह मानसिक आतंकवाद की पद्धति है। प्रचारवाद आधुनिक आतंकवाद है।

पर प्रश्न हो सकता है कि आदर्श की क्या मर्यादा है? अज्ञेय और अप्राप्य कहकर क्या आदर्श अनाचार और अनिष्ट को भी सहारा नहीं दे सकता है?

यह प्रश्न आज बहुत महत्त्व पूर्ण है। साध्य की लगन क्या साधन

को औचित्य दे सकती है ? आदर्श के नाम पर क्या सब-कुछ किया जा सकता है ? आदर्श विविध हो सकते हैं। घोष बदलते रहते हैं। वे घोष हमेशा अच्छी सम्भावना को लेकर बनते है। लेकिन क्या अच्छे घोष को लेकर उसके तले सब करने की छुट्टी मिल जाती है ? क्या घोष काफ़ी समर्थन है, और व्यक्ति की नीयत सब कर्मों को उचित बना सकती है।

मेरा ख़याल है कि ठीक यही जगह है जहाँ नियम और नीति आवश्यक होकर आते हैं।

साध्य और आदर्श के बारे में तो बहस हो नहीं सकती। मुझे जहाँ से, जिससे, जैसे प्रेरणा मिले, वैसे लेने को मै स्वतन्त्र ही नही हूँ, कर्तव्य से बाध्य भी हूँ। उसी के प्रति मुझ मे आदर्श-भावना हो सकती है। उस पर दूसरे का या समाज का, कोई बन्धन नही। उस पर मै चाहूँ तो ही विचार-विनिमय हो सकता है। मैं न चाहूँ तो किसी को उसमें दखल देने का सामर्थ्य नहीं है। इस तरह आदर्श सब ठीक मानने होगे। बेशक उन पर कोई मर्यादा नही हो सकती। कल्पना पर कब कोई सीमा चढाई जा सकी है ? वैसा करना मनुष्य को पंगु बनाना होगा। यह तो ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य-भाव को चुनौती देना ही हो जायगा। यह अधर्म होगा। व्यक्ति किसी भी आकार को अथवा कि निराकार को पूज सकता है। किसी के मन की मूर्ति नहीं तोडी जा सकती। और कोई एक मूर्ति सब मनो में बलात् धँसाई नहीं जा सकती। वह प्रयास बचपन है।

लेकिन साध्य पर जब कि मैत्री-भाव से की गई चर्चा के अतिरिक्त और किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी का अवकाश नहीं है, तब साधनों के बारे में वह स्वतन्त्रता किंचित् भी नहीं है। यहाँ व्यक्ति व्यक्ति नही, वह समस्त का अंग और समाज का सदस्य हो आता है।

व्यक्ति जहाँ सामाजिकता को छूता है, वहीं उसके व्यक्ति-धर्म पर मर्यादा आ जाती है। व्यक्ति का कर्म-मात्र सामाजिक है। इसलिए

साधन का प्रश्न हमेशा ही विचारणीय बनता है।

हम असामाजिक नहीं हो सकते। किसी आदर्श के लिए भी नहीं हो सकते। इससे धर्म चाहे अनेक हो, पर समाज-धर्म (Morals) को सब पुष्ट ही कर सकते हैं। जो नीति (मोरल्स) को स्खलित करता है, वह धर्म नही है। फिर चाहे उसका कुछ भी नाम हो, उसका विरोध ज़रूरी है।

पर आज धार्मिक आदर्शों के मामले में इस मर्यादा को हम पहचान भी जाते हैं। लेकिन राजनीतिक आदर्शों को लेकर उन मर्यादाओं को भूल जाना हमारे लिए बहुत सहज हो गया है। स्वराज्य या देश-प्रेम या देश-रक्षा या दायित्व-रक्षा या जातीय विशिष्टता अथवा और इसी तरह के शब्दों को लेकर मानो हम मानव-समाज-धर्म की मर्यादाओं से छुट्टी पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

राजनीति मे आज चारो तरफ़ क्या हो रहा है? इस देश में या परदेश में, आदमी और आदमी में क्या द्वेष-भावना को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है? मानो कि साध्य को जैसे बने साधना ही पुरुषार्थ है, शेष सब-कुछ व्यर्थ है। मुझे कहना है कि यह भयावह है!

और इस सबके लिए तर्क प्रस्तुत होता है कि आदर्श तो आदर्श है। लेकिन यथार्थ की अपनी कठिनाइयाँ है। हम समूचे विश्व में शान्ति चाहते है, आदमी और आदमी को भाई बना हुआ देखना चाहते हैं। लेकिन वर्तमान की यथार्थता को बिना देखे कैसे चला जा सकता है? आदर्श स्वर्ग से उतरकर नही आता न। सो हम जो हिंसा करते मालूम होते है, वह इसीलिए कि हमारा और तुम्हारा शान्ति का आदर्श एक रोज़ यथार्थ हो आए। हम कवियों की तरह स्वप्न से सन्तुष्ट नहीं है, हम यथार्थवादी हैं। इसलिए घृणा को, द्वेष को, हिंसा को भी हम इस्तेमाल करने से परहेज़ नहीं कर सकते। यथार्थ यथार्थ है। आदर्श आदर्श है। आदर्श में हम एक है। पर यथार्थ—भई, वह तो राजनीति की चालें है। इत्यादि।

तो मैं कहूँगा कि ऐसा कहने वाले अपने को छलते हैं। शब्दों से छल मे सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। जो करो, खुलकर कर सकते हो। पर लाख छल से आदर्श और यथार्थ मे, साध्य और साधन में, प्रतिकूलता नहीं डाल सकते। कर्म और फल मे अन्तर नहीं है। कारण और कार्य मे भेद नहीं है। जो बोओगे, वही उगेगा। कहने से नहीं; आम बोने से आम मिलेगा। और काँटे बोओगे, तो स्वप्न कुछ रखो, मिलेगा काँटा।

सो हमारे लिए यथार्थ ही आदर्श हो। आदर्श में ही हमारी प्रतिक्षण की यथार्थता हो। दोनों में विरोध जहाँ है, वहाँ धोखा है ही। दोनों का अन्तर हमारी सम्भावना और वेदना हो, और उस अन्तर को पाटने के लिए हमारा समूचा कर्म हो। अन्यथा तो शब्द हमारे लिए जाल हो जायगा। और हम उसके चक्कर मे पडकर आदर्श के सपने में चलते-चलते भ्रष्ट भाव से कहीं गड्ढे में मुँह के बल ही गिरेंगे।

आदर्श की तो असल में बात ही नहीं की जा सकती है। वह मन में बसा रखने के लिए है। वह कहीं समाप्त नही है। इसलिए आदर्श काल के अन्त से भी आगे है। पर जितनी आदर्शवाली नक्शेबन्दियाँ है, सब कल्पित हैं। हिन्दू का स्वर्ग, मुस्लिम का बहिश्त, साहित्यिक का नन्दन-कानन, समाजवादी का अपना नक्शा या और किसी मतानुयायी का अपना स्वप्न—सब ठीक है, जहाँ वह मन मे उद्‌भावना जगाते है। आग्रह पर वही बन्धन हो जाते है। इससे आदर्श का उपयोग तो बहुत है। वह एकदम अनिवार्य है। लेकिन बातचीत और प्रचारवाला आदर्श अर्थात् काम का आदर्श यथार्थ से भिन्न नही हो सकता।

इस दृष्टि से आदर्श का कोई वाद जो कि यथार्थ के किसी वाद से भिन्न है, नही हो सकता। और यथार्थ का वाद तो अपने मे असम्भव ही है। सच यह है कि शब्द सब जायज़ है अगर उन पर वैज्ञानिकता का आग्रह न डालकर उन्हे केवल समझ बूझ के लिए और हार्दिक

आदान-प्रदान के लिए व्यवहार में लाया जाय। रूढ बनाना शब्द का इष्ट नहीं है। और जब किसी शब्द मे हृदय कम और रूढ प्रतिपादन अधिक ध्वनित होने लगे, तब उस शब्द की शक्ति विकृत हो जाती है। उस समय उससे सावधान रहने की आवश्यकता है।

आज के दिन यथार्थ और आदर्श इन शब्दों को लेकर हम अपनी सावधानता न खो दें। जाने कैसी-कैसी हवाएँ आ रही हैं और आयँगी। लेकिन वे हवा हैं। अख़बारों और आन्दोलनों की लहर पर शब्द कुछ ऊँचे चढ़ेंगे, वे तारे बनकर उठेंगे। लेकिन लहर से डरना डूबना है। जिसे लहर में दिशा देखनी है, या उसे दिशा देनी है, वह शब्दो को चिह्न मानेगा, प्रतीक मानेगा। काम में उन्हे भी ले लेगा। पर असलियत को मानो समूचे जीवन के ज़ोर से अनुभव करने का वह यत्न करेगा। और क्या प्रचलित शब्दो के सहारे या क्या उनके बावजूद, वह उस असलियत के प्रति अपना ईमान क़ायम रखेगा।

क्रान्ति

क्रान्ति शब्द मनोरम है। पर वह मनोरमता क्या है? स्वर्ण-मृग भी मनोरम था और उसके पीछे भागने से राम की सुगति नहीं हुई! क्रान्ति के पीछे भागने में वही दुर्गति तो कहीं होने वाली नहीं है?

लेकिन राम, राम होकर माया-मृग के पीछे भागने से नहीं रह सके। तब क्रान्ति के पीछे दौड पडने से हम ही कैसे बच सकते हैं?

शायद यह ठीक है। मायावी ही चाहे वह हो; इस युग के हम क्रान्ति के जागे सो नहीं सकते।

पर राम की बात तो हम राम पर छोड़ें। अपनी बात हमको राम के नाम पर नहीं छोड देनी चाहिये। स्पर्द्धा यह नहीं कि हम राम से बढकर हो जायँगे, लेकिन कौन जानता है कि राम ने धोखा इसीलिए नहीं खाया कि पीछे आने वाले हम उससे सीख लेकर धोखा खाने से बचें!

इससे जो हो, क्रान्ति के पीछे भागने से पहले उसे समझने की धृष्टता हम कर सकते हैं। और अगर यह जायज़ हो तो मै कहना चाहता हूँ कि मुझे उस शब्द की ध्वनि भली नहीं लगती है।

मुझे जानना चाहिये कि 'क्रान्ति' शब्द इस युग की भाषा को बहुत प्रिय है। वह चलता सिक्का है। ''इन्कलाब ज़िन्दाबाद' का नारा हर कहीं सुन लीजिए। फिर भी झूठ नहीं कहना होगा, और सच

यह है कि वह शब्द मुझे भीतर से रोता हुआ मालूम होता है। थोड़े पानी मे फूँक से जैसे बगूला बन जाता है, वैसे ही आवेश के जोर से भाषा की सतह पर ऐसे शब्द बन जाया करते हैं। आवेश है, तब तक वह शब्द भी गर्व से स्फीत होकर खड़ा है। पर आवेश नाम संकल्प का नहीं, जो टिकाऊ हो। इससे आवेश गिरा कि वह शब्द भी चपटा हो गिरता है और मालूम होता है कि उसका रूप मायामयी ही था, शेष अधिक उसमे न था। मुझे जान पडता है कि जो क्रान्ति करना चाहता है, वह क्या करना चाहता है इसको भली भाँति न जानने के कारण ही क्रान्ति करना चाहता है। वह अपनी ही बात का मतलब नहीं जानता। इससे उसकी बात क्रान्ति की होती है।

और अगर कहीं ऐसा नहीं है, क्रान्तिवाला जो कहीं अपना मतलब जानता है, तो फिर कहना होगा कि वह आदमी मतलबी भी है और अवसर-साधक है।

क्रान्तिवाले की आकांक्षाएँ अगर हवाई नहीं हैं, अगर वह सपनीला आदर्शवादी नहीं है तो 'क्रान्ति' शब्द के नीचे वह फिर अपने मन की साध पोस रहा है। तब वह सपनीले क्रान्तिवादी से गया-बीता है।

लेकिन आलोचना तजें। काम की बात करें। प्रश्न है कि क्रान्ति क्या? क्या वह की जाती है? और जब वह हो चुकती है, तब क्या होता है? क्या कोई ऐसा समय होगा जब क्रान्ति की आवश्यकता चुक जायगी? और अगर निरन्तर उसकी आवश्यकता रहेगी, अर्थात् कभी भी वह पूरी तरह हो न चुकेगी, तो क्या उस (तत्त्व) को क्रान्ति कहना मुनासिब भी होगा? क्या 'क्रान्ति' शब्द उतनी गम्भीर यथार्थता का बोझ सँभाल भी सकेगा?

क्रान्ति क्या?

वह परिवर्तन जिसका कार्य-कारण-भाव हमारी मन-बुद्धि में पूरी तरह नही समाता, जो इस कारण बृहत् और आकस्मिक मालूम होता है। उसको मात्र परिवर्तन संज्ञा देकर सन्तोष हमे नहीं हो पाता।

कोई बड़ा शब्द चाहिए जो वैसी घटना के प्रति हमारे मन के विस्मय और आतंक को अधिक व्यक्त कर सके। 'क्रान्ति' वैसा एक शब्द है। विप्लव, विध्वंस, इन्कलाब, उथल-पुथल, इत्यादि भी वैसे शब्द है।

किन्तु जहाँ कार्य है, वहाँ कारण है ही। अकारण कुछ हो नहीं सकता। वह कारण, हाँ, हमसे ओझल तो ज़रूर हो सकता ही है।

कारण की ओर से देखे तो कोई कार्य आकस्मिक नहीं है। तब न विस्मय की आवश्यकता है न आतंक की, ध्वंस तब असम्भव है। उथल-पुथल भी असम्भव है। सब मानो क्रमागत है। काल की अनवच्छिन्न धारा मे सब कुछ घटना-रूप मे पिरोया हुआ है। अतीत में से वर्तमान बना। वर्तमान मे से भविष्य उगेगा। बीच मे टूट कहीं नहीं है। अर्थात् जिसमे तोड-फोड का भाव समा सके, वह स्थान भी कहीं नही है। पल-से-पल, मिनिट-से-मिनिट और युग-से-युग मिला है। बीच मे कही दरार नही है, जहाँ अवकाश हो कि तोड-फोड को रखा जा सके। जो टूटता मालूम होता है, असल मे अपने टूटने के द्वारा वह कुछ और को बना रहा है। वही बन रहा है, टूटते हुए का टूटना तो दृष्टि के सीमित होने के कारण मालूम होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे और परिमित दर्शन के बन्धन से छूटे तो ऐसी कोई चीज़ इतिहास की गति मे असम्भव हो जाती है जिसे क्रान्ति कहा जा सके। अगर काल का सूत कहीं कभी नहीं टूटता, अगर उसकी एक-एक कडी अटूट भाव से कार्य-कारण सम्बन्ध मे जुडी है, तो बीच मे कहाँ अवकाश है कि क्रान्ति आवे? इसलिए जो क्रान्ति चाहता है, मैं नहीं जानता कि असल में वह कुछ चाहता भी है।

क्या क्रान्ति की जाती है? और क्या वह की जानी चाहिये? थोडी देर के लिए मान लीजिए कि क्रान्ति होती है। वस्तुओ का मूल्य ऐसा पलट जाता है कि कुछ पूछिए नहीं। निगाह बदल जाती है और पहले पैमाने सब निकम्मे हो जाते है। बहुतेरा कुछ उलट गया मालूम होता है। ऐसे वक्त मन को भरने के लिए हम कहते हैं क्रान्ति हो

गई। अच्छा, मान लिया भाई, कि वह क्रान्ति हुई। आखिर तो निगाह हमारी एकांगी है। इसलिए यह दावा नहीं चल सकता कि हम सब घटनाओं के मूल कारण को पकड़ ही लेंगे और जब कारण पूरी तरह जान में नहीं है तो लाचार बनकर मान लेना होगा कि हाँ, यह तो क्रान्ति हुई।

भूकम्प आ जाता है। जहाँ मकान था, वहाँ गड्ढा हो बैठा, कुएँ की जगह बालू का ढेर खड़ा हो गया, नदी जहाँ थी, वहाँ सूखी धरती आ फैली और बंजर पड़ा था वहाँ पानी लहरा उठा। जैसे किसी ने सृष्टि के साथ खेल खेल डाला। देखकर हम कहते हैं कि यह तो विधाता का कोप फूटा है, भूकम्प नही तो इससे कम भला क्या है? आँखो के आगे होने वाले इस बेतुके परिवर्तन मे कोई संगति जो हमें दिखाई नही देती, इससे मन भी उस पर चुपचाप आश्वस्त नहीं हो रहता। प्रकृति की ध्वंस-लीला ही हमे उसमे प्रतिभासित होती है।

हमको पूरा हक़ है कि भूचाल को हम प्रकृति की ओर से होने वाली क्रान्ति कहे। वह हक हमारा कोई छीन नहीं सकता। लेकिन अगर वैज्ञानिक शोध का प्रश्न आये, यथार्थता को ही यदि समझने और जानने की बात हो, तब वहाँ क्रान्ति को कृपा कर हमे दूर ही रखना चाहिये। वह शब्द काव्योचित है, हमारी मनोदशा की अपेक्षा मे उसमे बहुत व्यंजना है। हृदय की अपेक्षा में देखे तो वह शब्द झूठ नहीं है। लेकिन विज्ञान में वह बिचारा मदद नहीं दे सकता। और जहाँ आवेग और आवेश की आवश्यकता नहीं है वहाँ उस शब्द की भी आवश्यकता नहीं है। क्रान्ति मे मन की घबराहट की यथार्थता के अलावा और कोई वास्तव समझी जाने वाली यथार्थता नहीं है।

यहाँ भूल न हो। मै उन लोगों में अपनी गिनती गिनाने की इच्छा रखता हूँ जो मन की सचाई के आगे हिमालय पहाड़ की वास्तविकता को शून्य मान सकते हैं। लेकिन इस जगह मैं-तुम की बात नहीं है। बात वैज्ञानिकता की है। और वैज्ञानिक के लिए क्रान्ति असत्

है; क्योंकि वैज्ञानिक अधीर नहीं हो सकता। मनुष्य अधीर होकर ही क्रान्ति को सचाई मानकर लुब्ध हो सकता है।

लेकिन पीछे हमने माना है कि हम परिमित-बुद्धि हैं। इसलिए हमारी भाषा के लिए क्रान्ति हो भी सकती है। पर जब सवाल उपस्थित हो कि क्या क्रान्ति की जाती है, और क्या वह की जा सकती है, तो मुझको मालूम होता है कि यह सवाल ही ग़लत है।

मूल सत्य में तो क्रान्ति कुछ है नहीं। मानव-भाषा मे ही वह है। जब भाषा से बाहर वह और कहीं नही है, तब उसके किये जाने का सवाल भला कैसे हो सकता है ? वह किसी तरह नहीं की जा सकती। अगर हो ही तो वह सही भर जा सकती है। जो उसे करना चाहते हैं, वे धोखा खाना चाहते हैं। वे बादल को मुट्ठी में पकड़कर पानी बरसाना चाहते हैं। वह बचपन करना चाहते है।

अगर क्रान्ति वह परिवर्तन है जिसका कारण खुलकर हमारी समझ में बैठता नहीं है तो स्पष्ट है कि वह क्रान्ति करने योग्य कभी भी नहीं हो सकती। जो तर्क से विगत है, वह उसी कारण विवेक से भी गई-बीती है और अकर्त्तव्य है। और जो तर्कातीत नहीं है, अतर्क्य नहीं है, उसके लिए 'क्रान्ति' शब्द का व्यवहार एकदम असंगत और असम्भव है।

अतः क्रान्ति नहीं की जा सकती। वह नहीं की जानी चाहिए। भाषा मे और व्यवहार में उसे अधिक-से-अधिक सहा ही जा सकता है। उसका प्रचार अनिष्ट है। अगर कुछ इष्ट है तो यह कि उस शब्द का प्रयोग कवि-भाषा मे ही किया जाय। अन्यथा वह कृपया अप्रयुक्त ही रहे। क्योंकि जितनी कम क्रान्ति हो, उतनी ही अधिक संगति जीवन मे होगी, और परिणामतः उतनी ही अधिक उन्नति। क्रान्ति में बेबसी का भाव है, अनियमता और अव्यवस्था का भाव है। किन्तु जीवन नियमित और व्यवस्थित होना चाहिए। जो क्रान्ति चाहता है, वह संयम से बचना चाहता है। वह अपने से और अपने काबू से

बचना चाहता है।

अकसर सोच उठता हूँ कि अगर मै सचमुच क्रान्ति चाहता हूँ तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिसको मैंने क्रान्ति का परिणाम समझ रक्खा है, अर्थात् एक स्वर्ग-चित्र (Utopia), उसी को मै चाह रहा हूँ और मुझको प्रतीति होती जा रही है कि क्रान्ति चाहने के अन्दर असल मे किसी ऐसे ही मायावी स्वप्न की चाह दुबकी हुई होती है। प्रतीत होता है कि जो क्रान्ति चाहता है, वह जीवन का सामना करने से कुछ ऊबता जा रहा है। अपने तात्कालिक धर्म से वह बचाव चाहता है और उस सपने मे रस लेना चाहता है। वह कुछ रोमांस माँगता है। हठात् वह अपने को बहला और बहकाना चाह रहा है कि क्रान्ति बस घटित हुई नहीं कि उसका सपना उसके हाथ आ जायगा। चलो, मुसीबत टलेगी। सच पूछो तो मुसीबत है जिसको वह टालना चाह रहा है।

पर सावधान रहे हम कि हमारे मन से बाहर स्वर्ग कहीं भी नहीं है। वह कभी कहीं से उतरकर हम तक नहीं आ जायगा। जब तक काल है, गति की आवश्यकता शेष है। परिवर्तन की आवश्यकता भी इसलिए कालान्त तक शेष रहेगी। मनुष्य है, तब तक उसे शान्ति कभी न मिलेगी। वह चैन चाहता है तो झूठ चाहता है। क्रान्तिवादी शायद अपनी मानी हुई क्रान्ति के बाद सुख-चैन छा जाने की आस रखता है। क्रान्ति के बाद के मूल मे मानव-मन की यही प्रवन्चना है। जैसे क्रान्ति हुई नहीं कि सब ठीक हो जायगा। इसलिए क्रान्तिवादी को चेतावनी देने की ज़रूरत है कि क्रान्ति के द्वारा और उसके पार वह शान्ति के सपनीले महल न खडे करे।

इतिहास ऐसी चेतावनियो से भरा पडा है। युग-युग मे और देश-देश में अनेक क्रान्तियाँ हुईं; लेकिन क्या वहाँ स्वर्ग उतरा ? क्या परिणाम हुआ उनका जो क्रान्ति के सन्देशधारी थे ? हरएक पूर्ववर्त्ती क्रान्ति-दल परवर्ती-दल द्वारा प्रतिक्रियावादी समझा गया। और उनके

हाथों नृशंस अत्याचारों का शिकार हुआ। यह सब हुआ क्रान्ति के नाम पर। पर स्वर्ग किसी पर नहीं उतरा। क्रान्ति की गई और जब वह की जा चुकी तो देखा गया कि वह केवल एक मोह थी। दूर था तब मोह हमें मोहता रहा। पास आया तो दीख गया कि वह थोथा है।

चाहवाली सारी क्रान्तियाँ थोथी हैं। क्योंकि चाह ही व्यर्थ है। वह सपने का पोषण है। वह संकल्प की द्योतक नहीं है। वह मानसिक विलास की परिचायक है।

न समझा जाय कि क्रान्ति को मै भय बताता हूँ। क्रान्ति ऐसी नहीं है कि भय के कारण उसके आकर्षण में फँसा जाय, यही मै क्रान्तिवादी को कहना चाहता हूँ।

अगर क्रान्ति है तो वह प्रतिक्षण हो रही है और कभी वह समाप्त नहीं होगी। युद्ध प्रतिक्षण हो रहा है, कभी वह समाप्त नहीं होगा। मौत में समाप्ति है और निर्वाण की बेहद चाह है तो हम इसी मिनट मर सकते हैं। लेकिन मौत मे भी युद्ध-समाप्ति नहीं है। वह युद्ध तो चलता ही रहता है। जीवन द्वारा और मृत्यु द्वारा हम उस युद्ध को आगे बढाते है। इस तरह प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रान्ति में हम मर-मरकर भी योग देते हैं और इसी भाँति जीने को सार्थकता से जीते है। लेकिन यहाँ आशा किस बात की। क्योंकि युद्ध अनन्त है और जब तक हमारी सत्ता है, तब तक हमारे लिए युद्ध मे जूझते रहना ही है।

इस काल-परम्परा के विधान को क्रान्ति कहते हो तो दूसरी बात है। लेकिन मैं जानता हूँ कि 'क्रान्ति' शब्द उस शाश्वत-युद्ध-रूपी धर्म का आभास मन मे जगाने के लिए बहुत अल्प है। वह उस अपेक्षा में बेहद ओछा और क्षुद्र मालूम होता है। उस शब्द को इस्तेमाल करनेवाले के मन की जडों मे अकांक्षा दुबकी बैठी रह सकती है। वह शब्द उक्त विराट् अभिप्राय में काम नहीं आता। उतना अर्थ उसमे समा नहीं सकता। और साधारण रूप से जो मतलब उस शब्द में

भरा जाता है और ध्वनित होता है, वह परिमाण में ही तुच्छ नही है, बल्कि प्रकृति मे भी अन्यथा है। वह आकांक्षा के विकार से विकृत है। उसमे रोमांस का सेवन है। उसमे संकल्प की दृढता नहीं, अधीर आवेश की चमक है।

इसलिए 'क्रान्ति' शब्द मुझे नहीं भाता। न समझ लिया जाय कि मै हटता हूँ। अभी पढ़ने को मिला कि मैं लेखक क्रान्तिकारी हूँ। अगर ऐसा हो तो लिखने वाले अपनी बात सँभालें। मैं तो यह जानता हूँ कि अगर मैं कहीं भी क्रान्ति चाहता हूँ और उस शब्द को काव्य की भाषा मे ही प्रयोग नहीं करता हूँ, तो मैं गलती पर हूँ। कहीं मन में कमी है और उपयुक्त कर्म का अभाव है, तभी वैसी चाह मुझमे हो सकती है। और वह शुभ बात नहीं है।

मुझे जानना चाहिए कि क्रान्ति नहीं चाहनी चाहिए। जहाँ तात्कालिक-धर्म के प्रति जागरूकता है, वहाँ वैसी चाह की आवश्यकता से छुटकारा मिल जाता है। और अगर उस शब्द (क्रान्ति) मे कोई इष्ट और विधायक अर्थ है तो उस अर्थ मे स्वधर्म-पालन के सिद्धान्त से व्यक्ति की सच्ची क्रान्ति करने की क्षमता बढ़ जाती है। नहीं तो, चाहवाली क्रान्ति को अपनाने से आदमी खोखला ही बनता है। अगर तब उसमें से आवाज़ उग्र और अधिक निकलती है, तो शायद इसे भी खोखलेपन का ही लक्षण मानना चाहिए।

सिद्धान्त - सूत्र की मर्यादा

अभी उस दिन गोष्ठी मे चर्चा करते हुए बात निकली कि साहित्य का इष्ट क्या है? परिणाम मे सूत्र प्राप्त हुआ 'अखण्ड मानवता'।

असल में उस इष्ट को हम और भी सूत्रो में कह सकते हैं। ऐसे सब सिद्धान्त-सूत्रो में भिन्नता होगी। पर समानता भी होगी इस अर्थ मे कि सभी उपादेय होंगे, सब में ही हित का भाव होगा। किसी मे वह हित व्यक्ति, किसी में समाज और तीसरे किसी में राष्ट्र इत्यादि संज्ञा से जुड़ा हो सकता है। 'मानवता' भी एक वैसी ही संज्ञा है और साहित्य के इष्ट को 'अखण्ड मानवता' के रूप में मानने में कोई बाधा नही है। लेकिन परिभाषा मे उस इष्ट को रखने की आवश्यकता जीवन में गति-साधन की दृष्टि से ही है। इसलिए उन सिद्धान्त-सूत्रों को पकड़े रहने की आवश्यकता नहीं है, न उनका आपस मे टकराना उचित होगा। व्यक्ति-हित की भाषा में इस इष्ट को बताने वाली परिभाषा को समाज के वाद के आग्रह में अनिष्ट नही मानना होगा, न व्यक्ति की मुक्ति के पीछे समाज-मंगल चाहने वाली परिभाषा को ही बहिष्कृत करना होगा। असल में विवाद वादाग्रह से उत्पन्न होता है और गतिरोध उपस्थित करता है। अतः प्रश्न यह नही है कि साहित्य के इष्ट को हम क्या परिभाषा देकर स्वीकार करते हैं, बल्कि असल महत्त्व की बात यह रहती है कि हम उस परिभाषा का जीवन के साथ समीकरण किस अंश

में और किस समीचीनता के साथ साधते हैं।

ऊपर के ही सूत्र को लीजिए। वहाँ 'अखण्ड मानवता' को साहित्य का लक्ष्य ठहराया है। देखने में उसका भाव काफी व्यापक है। लेकिन 'मानवता' शब्द स्वयं में सत्य को सीमित और खण्डित ही करता है। 'अखण्ड मानवता' पद से लग आता है कि मानवता को अपने से इतर तत्त्व के प्रति अखण्डता सिद्ध करनी नहीं है, अपने भीतर रहकर ही मानो वह अखण्डता साधी जा सकेगी। मानव के आगे भी अनन्त प्रकृति है। इसके पार होकर जो है, वह भी सत्य है। उस सबसे अपने को खण्डित करके क्या मानवता अखण्ड हो सकेगी? स्पष्ट ही शेष प्रकृति से छिन्न होकर, अपने को अपने में सृष्टि का मूर्धन्य और सत्य को अपनी परिधि मे निश्चित मान बैठकर मानवता कृतार्थ न हो सकेगी। इस भाँति 'अखण्ड मानवता' को निरपेक्ष और अन्तिम रूप से साहित्य का इष्ट मान लेना खतरे से खाली नही रह जाता। दूसरे सब सिद्धान्तो और परिभाषाओं का भी यही हाल मानना चाहिए। चलने के लिए वे हमारे हाथ को वैसाखी हैं। वे सहारा देने को हैं। सचमुच अपने मे वे साध्य या सत्य नही हैं। और, जैसे भक्त अपनी मूर्ति के सहारे अपनी भक्ति को निष्पन्न करता और मुक्ति-पथ को प्रशस्त करता है—उन मूर्तियों की विभिन्नता भक्ति के फल मे बाधक नहीं होती—वैसे ही परिभाषाओ की विविधता साहित्य-साधना की फल-प्राप्ति मे अवरोधक नही होती। मुख्य बात वैसाखी की लम्बाई और ऊँचाई नही है, वह तो यह है कि हाथ में होकर वह तुम्हे काम देती है। और जहाँ काम न दे, वहाँ तुम उसे फेंक कर दूसरी लकडी लेने के लिए तैयार हो। अर्थात् महत्त्व की बात यह है कि हम जानते रहे कि सिद्धान्त-सूत्र बुद्धि की थिरता के लिए भाषा के टेकनमात्र है और अपने-आप मे उनका मूल्य अधिक नही है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक सैद्धान्तिक परिभाषा में दो तट होते है। केवल एक परिमाण (Dimension) की सत्ता कोई

नहीं हो सकती। न कोई अध्यात्म समाज-निरपेक्ष हो सकता है, न कोई समाज आत्महीन। आत्म की स्थिति जगत् की सम्भावना बिना सम्भव नहीं। आत्म की भाषा में ध्येय आध्यात्मिक और जगत् की परिभाषा मे वह सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक है। कोई सजीवता इन दोनो में से किसी तट से हीन नहीं हो सकती। उस नदी मे पानी ही नहीं, जिसमे दो किनारे नहीं। अगर नदी सूखी नहीं है, बहती हुई है, तो उसमे किनारे भी दो है और जितना उन किनारो में अन्तर है, नदी उतनी ही बडी है। तटों का अन्तर बीच में नदी पाकर सुन्दर और सार्थक हो उठता है। जीवन का मेरी दृष्टि मे यही चित्र है; महाप्राण व्यक्तियो मे उत्कट विरोधो का समाहार दीखेगा। सच्चा आध्यात्मिक पुरुष विश्व कल्याणार्थ जीता हुआ प्रतीत होगा, यद्यपि वह विश्व की सत्ता को शून्यवत् कहेगा। अपनी ओर से उसकी समस्त चेष्टा मुक्ति की दिशा मे होकर भी वह अनायास विश्व-वन्दनीय बन उठेगा।

आजकल तो जैसे समाजवाद और आत्मवाद आपस में ३६ के अंक बन गए है। वादों मे अक्सर ही ऐसा होता है। किन्तु वादो मे विवाद हो, आत्म मे और समाज में वैसी विमुखता नहीं है। उनमे तो अभेद है। वाद का विकार ही है, जो उनमे भेद दिखाता है। अन्यथा तो वे दो तट है, जिनके बीच होकर जीवन साधना को प्रवाहित होना है।

इस पर से यह परिणाम निकलता है कि आध्यात्मिक कविता का हक यह नहीं है कि वह उपयोगी और स्पष्ट न हो। स्वभाव से ही यह असम्भव है। वह छायावाद, जिसको धूमिल और समाज-निरपेक्ष होना पडता है, आध्यात्मिक भी न होगा। और वह प्रगतिवाद, जो हथौड़े की तरह ठोस और मज़बूत होगा कि दर्शन और तर्क से अतीत किसी रहस्यानुभूति के स्पन्दन का उसमे अवकाश न हो, ऐसा प्रगतिवाद भी सामाजिक कैसे ठहरेगा ?

इस दृष्टि से वन-कन्दरा मे बन्द कठोर व्रती और मेज पर मुक्का फटकारते हुए कर्कश-कृति मे बहुत अन्तर नहीं है। दोनो में न कोई

आध्यात्मिक है, न सामाजिक दोनो विज्ञ के निकट एक से अहं-ग्रस्त है।

भाषा मनुष्य की तरह अपूर्ण ही है। वह कृतार्थ वहाँ है, जहाँ बस संकेत करती है। वह सत्य को साग्रह देती नहीं, केवल साभार लेना चाहती है। जो भाषा मे आ जाय, वह सत्य भी क्या? सत्य के तो स्पर्श की अभिलाषा में भाषा स्फुरित होती है। अर्थात् भाषा सत्य को जीवन नहीं देती, सत्य ही भाषा को जीवित रखता है। सत्य के स्पर्श से शब्द अपने ही अर्थ से बहुत अधिक कह जाता है। उस सत्य से स्फूर्ति न लेकर भाषा मे उसके लेनदेन करने वाले को रस से रीते पात्र पर ही रुक गया मानना चाहिए। भाषा मे सामर्थ्य नही कि वह पूर्ण हो। इससे उस भाषा से बने सिद्धान्त-सूत्र कभी आत्म की ओर उठते तो कभी जगत् की ओर झुकते मालूम होते हैं। अन्त.शुद्धि, आत्ममुक्ति, स्वान्तःसुख, आत्मसंस्कार आदि शब्दावली मे वे सूत्र साहित्य के इष्ट को प्रकट करते है, तो कभी लोकहित, सौन्दर्यालेखन राष्ट्रसूक्ति इत्यादि पदो के रूप मे वे सूत्र सामने आते हैं। स्पष्ट ही ये सब इङ्गित द्वारा ही सत्य का आभास देते हैं। विभिन्न रुचि और प्रकृति वालो को विभिन्न शब्दो मे अनुकूलता प्रतीत हो सकती है। स्वयं मै यह अनुभव करता हूँ कि पहली कोटि के आत्मवाची शब्द अधिक वैज्ञानिक है। वे अधिक स्थायी और मूलभाव की ओर जाते है। फिर भी दूसरी कोटि के शब्दों के शब्दो से उनका वैसे ही विरोध नहीं है, जैसे सिक्के की सामने की मूरत का अपनी पीठ पर के अक्षरो मे विरोध नही है।

उदाहरण के निमित्त ऊपर आए सूत्र 'अखण्ड-मानवता' को ही लीजिए; सहसा उससे इस पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ फैली हुई मानव-जाति का बोध होता है। वह मानवता आपस मे कटी-छँटी है। वह देश, जाति, वर्ण, भाषा, संस्कृति, स्वार्थ आदि हेतुओ से नाना भागो और स्तरो में खण्डित है। उसी में अखण्डता लानी होगी, सामान्यतया यह भाव हमे उस सूत्र मे से प्राप्त होता है।

लेकिन मानवता का स्थायी प्रतीक, व्यक्ति स्वयं अपने भीतर

खण्डित हो रहा है। नाना प्रकार के द्वन्द्व उसके आत्मतेज और आत्मैक्य को प्रतिक्षण कुतरते रहते है। वह अपने ही भीतर छिन्न भिन्न, खण्डित और त्रस्त है। उस व्यक्ति को हमे अखण्डता प्रदान करनी है, विवेचक इस भाव में उस सूत्र के तथ्य को ग्रहण कर सकता है।

मुझसे पूछिए तो यह दूसरा अर्थ ही मुझे उस सूत्र का मर्मार्थ मालूम होता है। क्योकि ब्रह्मांड की चिन्ता पिंड पर है ही कहाँ? वह उस चिंता के नीचे स्वयं अभिभूत होकर अधर्म मे ही प्रवृत्त हो सकता है। स्वधर्म के आचरण के लिए उसके पास अपना स्वत्व जो है। वहाँ अखंड होने की साधना मे कौन जानता है कि समूचे विश्व की अखंडता सम्पन्न करने मे भी व्यक्ति यथार्थ योग नही देता होगा, और मेरे विचार मे साहित्य राजकारण से इसी जगह पृथक् है कि राजकारण दुनियाँ की व्यवस्था और विधान को सँभालकर व्यक्ति को सुखी करना चाहता है, तब साहित्य व्यक्ति की चेतना को संस्कृत और सुघटित करके विश्व की सुव्यवस्था मे योग देता है।

इस प्रकार प्रत्येक सिद्धान्त-सूत्र को हम आत्मापेक्षी (Subjective) झुकाव में ग्रहण कर सकते है, अथवा उसी को पदार्थ-विषयक (Objective) उपयोगिता की ओर झुका सकते हैं। हर हालत में हर भाव और कर्म मे दो तट विद्यमान रहेगे ही। एक ओर यदि आत्म-चेतना है, तो दूसरी ओर भूत-पदार्थ भी है। बुद्धि अपने आश्रय और अपनी प्रगति के लिए दोनो मे पृथकता स्थापित करती हो, पर प्रगति दोनों के परस्परानुयोग मे ही सम्भव है और एक तट की हानि दूसरे तट का लाभ नहीं है।

अन्त मे मेरी प्रतीति है कि विचार और सिद्धान्त-सूत्रो की सीधी संगति सृजन से नहीं है और सारे वादो के प्रति साहित्य एक-सा निस्संग रह सकता है। सब तरह के सिद्धान्त उसमे ऐसे ही पनप सकते हैं, जैसे पृथ्वी के वक्ष पर नाना रूप-गंध-वर्ण के फल-फूल।

श्रमण और हरण-संस्कृति

समय चलता रहता है और चीज़ें बदलती रहती हैं। हर घड़ी कुछ-न-कुछ होता है। यानी जीवन गतिशील है और जगत् परिणमनशील। सागर की तरह सम्पूर्ण संसार तरंगमय है, स्थिर कहीं कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड स्पन्दनशील है।

किन्तु अपनी ही गति पर अधिकार रखने और विवेक करने के लिए हमने दो शब्द बनाए हैः—अवनति और उन्नति। गति जो नीचे की ओर है, अनिष्ट है। वह विकास मे सहायक नही। वह अवरोध और असामन्जस्य पैदा करती है। दूसरी जो इष्ट है, सामंजस्य-पूर्ण है। उसे प्रगति और उन्नति कह सकते हैं।

राजनैतिक इतिहास मानव-जाति की हलचलो को आँकता और प्रकट करता है। हलचल अपने-आप में सार्थक नहीं होती। जरूरी है कि वह प्रगति की दिशा मे हो और उधर हमे बढावे। इससे राजनैतिक हलचलों को जाँचने के लिए फिर एक मान की आवश्यकता है। वह मान है संस्कृति। प्रगति की परख के मूल-मान (Values) सांस्कृतिक है।

पर 'संस्कृति' शब्द मे भी झमेला है। उसके साथ तरह-तरह के विशेषण लगे हैं। प्राच्य-पाश्चात्य, आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुस्लिम, वैज्ञानिक-आध्यात्मिक, एतद्देशीय और इतरदेशीय। इन विशेषणों से उलझन पैदा होती है। कभी-कभी 'संस्कृतियाँ' आपस में झगड़ती और

टकराती भी दीखती है। पर संस्कृति जब तक संस्कृति है, फिर कोई विशेषण उसके साथ हो, टक्कर मे नही आयगी। अपने नाम के प्रति सच्ची रहकर वह सदा समन्वय साध लेगी। सामन्जस्य खोज लेगी, जिन मे टक्कर हो वे चीज़े संस्कृति ही नही। संस्कृति का विरोध केवल विकृति से है। इस तरह पूर्व मे और पश्चिम मे, आर्य-जाति और इतर जाति में, हिन्दू मे और मुस्लिम मे, विज्ञान और अध्यात्म मे जो तत्त्व संस्कारी है, वे आपस में टकरा नही सकते। फिर भी यदि टक्कर है और क्लेश है तो विकृति के कारण है और विकृतियो मे ही है। अन्यथा तो रूप और आकार-प्रकार के भेद से अन्तरङ्ग मे भेद पडना जरूरी नहीं है। संस्कृति तो है ही वह जो भेद से अभेद और अनेकता से एकता की ओर चलती है। अपने को दूसरे मे और दूसरे को अपने मे देखने की साधना संस्कारिता है। संस्कारिता सब देश और काल मे एकार्थवाची है। शब्द ही हैं जो उसके लिए भिन्न-भिन्न इस्तेमाल हो सकते और होते है।

संस्कृति इस तरह मानव-जाति की वह रचना है, जो एक को दूसरे के मेल मे लाकर उनमें सौहार्द की भावना पैदा करती है। वह जोड़ती और मिलाती है। उसका परिणाम व्यक्ति में आत्मोपमता की भावना का विकास और समाज का सर्वोदय है।

इसके विपरीत जो फोडती और फाडती है, विकृति है। उसमें अपनी-अपनी निजता पर इतना ज़ोर होता है कि समग्रता का ध्यान नहीं रहता। नतीजा यह कि हरेक अपनी निजता की रक्षार्थ दूसरे की निजता को खण्डित करता है। उसमे बराबरी और बढ़ाबढी रहती है। दूसरे से खुद को बढ-चढ कर मानने और दिखाने की वृत्ति उसमे गर्माई रहती है। समता के वह विरुद्ध है और ऊँच-नीच, बडे-छोटे का भेद उसमे तीव्र होता जाता है। अहंकार मे उसकी नींव है। अहंकार ज़रूरी तौर पर वह चीज़ है, जिसको संघर्ष में और मुकाबिले मे तृप्ति है। अभिमान को स्वाद दूसरे के अपमान मे मिलता है।

संस्कृति और विकृति को अन्दर की ओर से इस तरह आसानी से परखा जा सकता है। संस्कृति की आत्मा एक है। नाम-रूप चाहे अनेक हो। विकृति भी भीतर से एक समान है। नाम-रूप उसके भी अनेक हो सकते हैं। संस्कृति है अहिंसा। विकृति की शर्त है हिंसा।

शब्द झमेला पैदा किया करते है। उनको सूचक रूप में जो हम नहीं लेते। शब्दो को ही यथार्थ मान बैठते है। परिणाम यह कि वे आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते है। सत्य भाव मे है और इस तरह वह हृदय मे है। शब्द मे वह थोडे ही है। शब्द मे सचाई वहीं तक है जहां तक उसमे हृदय और भावना की सचाई है। अन्यथा तो शब्द विग्रह और कलह के काम आते है। तभी तो असत्य अधिक सशब्द और मुखर होता है। मिथ्या के प्रागल्भ्य के आगे सत्य तो मूक हो रहता है। इस तरह आवेश और आग्रह मे शब्दो को इतना ठोस और कठोर बना दिया जाता है कि वे आपस मे टकरा कर चिनगारी उत्पन्न करने लगते है। 'वादो' मे अक्सर भाषा के साथ यही बीतता है। वहाँ शब्दो को धार और किनार दे दी जाती है। उससे उनकी ऋजुता, आपस मे घुल-मिल जाने, पिरो रहने की उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वाद से इसीलिए विवाद उपजता है। प्रत्येक मतवाद एक ऐसे समुदाय को जन्म देता है, जो दूसरे मतवादियो से मोरचा लेने को उद्यत हो। ऐसे साम्प्रदायिकता बनती और मज़बूत होती है। ये दायरे अपने-आप मे बन्द और सँकरे पडकर औरो के प्रति असहिष्णु हो जाते है और जीवन के प्रवाह और विकास मे अवरोधक बनते हैं।

अहिंसा की बौद्धिक संज्ञा है 'अनेकांत'। अर्थात् समस्त भाषा सापेक्ष है। कथन सब अमुक अपेक्षा से ही सत्य है। पूर्ण सत्य कोई नहीं है। इस पद्धति से कोई मत अपने-आप मे सच या झूठ नहीं रहता। प्रत्येक मत की सत्यता आपेक्षिक, सापवाद और सहिष्णु हो जाती है। संस्कृति की इस तरह पहली शर्त है, मत मात्र के प्रति सहानुभूति और

समभाव। उसी को दूसरे शब्दों मे कह सकते है, व्यक्ति मात्र के प्रति प्रीति और सद्भाव। पहले मे अहिंसा का बौद्धिक पर्याय है, तो दूसरे में हार्दिक। दोनो अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिशील होने मे अनायास ही मत के प्रति सहिष्णु होना समा जाता है। विचारो के प्रति जिसमें कट्टरता है, व्यक्तियो के प्रति भी उसमें अधिकांश राग-द्वेष ही रहता है।

अब अहिंसा कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त होकर अहिंसा स्वयं एक मतवाद हो जाती है। अहिंसा का वादी दूसरे और वादियो से विशेष भिन्न नहीं रहता। तब अहिंसा एक गिरोह के लिए नारा बन रहती है। यहाँ तक हो सकता है कि हिसा के निमित्त ही अहिसा का जयघोष किया जाय। किन्तु संस्कृति को शब्द से नही, सार से काम है। इसी से हमे अहिंसा के उच्चार से अधिक आचार की ओर ध्यान देना होगा।

आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नही है। उसमे दल हैं, पक्ष हैं और विषमता है। आपसी सम्बन्ध कुछ ऐसे आधार पर बने है कि स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है। एक की हानि मे दूसरे का लाभ है, और एक पक्ष उभरता है तो तभी जब कि दूसरा दबता है। इन सम्बन्धो के आधार पर जो समाज का ढाँचा आज खडा है, उसमे हम देखते हैं कि प्राणशक्ति का बहुत नाश और अपव्यय होता है, अधिकांश आदमियो की सम्भावनाएँ व्यर्थ जाती हैं। एक सफल होता है तो अनेको को असफल बना कर। इस तरह उस एक की सफलता स्वयं व्यंग्य हो रहती है। ऐसी समाज-व्यवस्था मे जो सभ्यता, संस्कृति और संस्कारिता फलती है, वह मानव-जाति को बडी मँहगी पड़ती है। इसी मे सन्देह है कि वह वास्तव मे संस्कारिता होती है। निस्सन्देह आज सुघराई की कमी नही है। नफासत की एक-से-एक बढ़कर चीज़ें लीजिये। शबनम के वस्त्र। सपने हारे, ऐसी फैंसी चीजें, सुख-विलास के अनेक आविष्कार। आमोद-प्रमोद के अगणित प्रकार।

कहाँ तक गिनिएगा ! कला-कौशल का भी कम विकास नहीं है। किताबें बहुत हैं और अखबार बहुत हैं और सिनेमा बहुत हैं। इस प्रकार शालीनता और शिष्टता और आभिजात्य के वैभव के आज वैपुल्य है। बड़े शहरों की फैंसी सोसायटी मे जाने से पता चलेगा कि रुचि किस बारीकी और रंगीनी और ऊँचाई तक पहुँची है।

लेकिन क्या उससे सन्तोष हो ? ड्राइंग-रूम की भव्यता मनोहर और सुखद हो सकती है, लेकिन उस रूम से बाहर अगर गन्दगी और सड़ाँद फैली हो तो ड्राइंग-रूम का सुख कितने दिन का और किस काम का ? क्या भला उसमें कोई बन्द हो सकता भी है, या उसमे भूला रह सकता है ? और जो रह सकता है क्या वह व्यक्ति ईर्ष्या के योग्य है ?

समग्रता की दृष्टि से विचार करते है तो कुछ ऐसा ही भाव मन में उठता है। उन मुट्ठी-भर लोगों की सुघराई, जो चारों ओर के अभाव और दरिद्रता के बीच मे भी अपने लिए भोग और विलास की सामग्री जुटा लेते हैं, क्या बहुत अभिनन्दन की चीज है ? क्या हम मान लें कि वैसी सुघराई में मानवता की सिद्धि है ? नहीं, यह मान लेना कठिन होता है। मन कहता है कि सब चमक-दमक और रौनक के बावजूद इस सब सम्भ्रान्त शिष्टता मे असलियत उतनी नहीं है। ऊपर से जो सुन्दर है, भीतर से वही शान्त नहीं है। सौंदर्य वह आवेश का है और आनन्द-प्रमोद भी वह मुक्त नही है। मन तक उस आनन्द का उल्लास नहीं पहुँचा है। न शिष्टाचार की मिठास ही भीतर तक पहुँची हुई दिखाई देती है। व्यवहार की वह शालीनता स्वार्थ पर दबाव पड़ने पर सहज ही जवाब दे जाती है। तब जो अत्यन्त सम्भ्रान्त प्रतीत होता था, उसी में भीतर की कर्कशता और परुषता दिखाई दे जाती है।

और इसका कारण है। हरेक के पास कुछ अपना स्वत्व है। वह स्वत्व पुष्ट और सुरक्षित हैं, तब तक व्यक्ति अनायास सज्जन है। लेकिन आज की समाज-व्यवस्था मे जैसे हरेक को अपने स्वत्व के बारे में हर घड़ी चौकन्ना रहना होता है कि कोई उस पर हाथ न डाले। वह अपने

स्वत्व को चारो ओर से हवा में खुला नहीं रख सकता। उसे सुरक्षा की तरह-तरह की प्राचीरे देनी होती है। तब कही वह अपने स्वत्व को लेकर स्वस्थ हो पाता है। अदालत और पुलिस, जेल और कानून, इस तरह शक्ति और न्याय की अनेकानेक संस्थाएँ अपने चारो ओर खडी करके उनके घेरे के भीतर वह अपने स्वत्व का प्रदर्शन और उपभोग कर पाता है। इतने पर भी उसके मन की शंका जैसे उससे दूर नहीं होती है। उसके अपने एक स्वत्व के कारण जो अनेक स्वत्वहीन होकर समाज मे विचर रहे है, उनका खतरा मानो उसे सशंक ही रखता है। इस तरह उसके उल्लास मे भी संशय का और विलास मे व्यथा का मिश्रण रहता है। वह समाज जहाँ प्रत्येक के स्वत्व मे आपस मे विग्रह है, विरोध और स्पर्द्धा है, वहाँ सर्वत्व का भाव समृद्ध कैसे हो सकता है? और जहाँ पर प्रत्येक का स्वत्व सर्वत्व की समृद्धि मे योगदान नहीं करता, वहाँ संस्कृति का समर्थन और स्थिरता कहाँ? मानना चाहिए कि वह एक इमारत है, जो बेबुनियाद है, इससे कभी भी ढह सकती है। उस इमारत मे ईंट-से-ईंट जुडी हुई नहीं है। इससे कौन जानता है कि कब वे ईंटें आपस मे बज न उठेगी।

आँखो आगे तो महायुद्ध होकर चुका है। उसका उपसंहार अब बीत रहा है। फल बीज से दूसरा नही होता। इससे उपसंहार युद्ध-संहार के अनुकूल हो तो क्या असम्भव? पर मानने की इच्छा है, और उसके कारण भी है, कि मानव-जाति का अब एक जन्म, एक युग बीता। अब नव-जन्म होगा। एक नये युग का आविर्भाव होगा नई आशाएँ और नया संकल्प लेकर। जीर्ण की चिता मे से हम नूतन का निर्माण करेगे और उसका दिन कल नहीं, आज है।

आज हमको भविष्य के लिए समाज को बुनियाद देनी हैं। वह बुनियाद कि जो अटल और अडिग हो। उस पर ऐसी समाज-रचना खड़ी करनी है कि जिसमे हर व्यक्ति का स्वत्व समाज के सर्वत्व को पुष्ट करे। हरेक की निजता परस्पर अनुकूल हो। हरेक की शक्ति हरेक को

समृद्ध बनाने में लगे। किसी एक को भी शक्ति का उपयोग दूसरे को व्यर्थ करने मे न हो पाये। होडाहोड मे मानव-प्राणो का दुरुपयोग न हो। सहयोग और सहोद्यम में जुटकर उस चैतन्य-शक्ति का अधिकाधिक सदुपयोग और सुफल हो। यह अहिंसक समाज-रचना होगी। इसमें कोई रंक न होगा, इससे राजा भी न होगा। दीन न होगा, इससे दानी की भी आवश्यकता न होगी।

पर यह काम अहिंसा के मन्त्रोच्चार से नही हो जानेवाला। मुँह पर नही, अहिंसा को कर्म म लाना होगा। तब हमसे अहिंसक संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसक को मै कहूँगा श्रमण संस्कृति। श्रमण अर्थात् श्रम पर आधार रखने वाली। श्रवण नही, वह हरण है। जो श्रम पर आधार नही रखती है, वह जरूर फिर हरण पर आधार रखती है। उसमें श्रम स्वयं किया नहीं जाता, अन्य के श्रम का हरण किया जाता है। हरण के आधार पर जो संस्कृति खड़ी होगी, वह निश्चय ही अपाहिज है। वह तो दूसरे के कन्धे पर बैठकर चलती है। दूसरे ने अपना कन्धा देना और झुकाना बन्द किया कि बेचारी कहीं की न रह जायगी। तब वह मुँह के बल आ रहेगी। उससे और कुछ करते न बनेगा। बेशक दूसरे का कन्धा बैठने को, या दूसरे का श्रम अपने उपभोग को मिलते रहने से आराम तो खूब हो जाता है। हमारे पैर तब धरती को छूते भी नहीं हैं और हम ऊँचे हो जाते हैं। पावो को जो चलना नहीं पडता, इससे बुद्धि अच्छी चलती है। आसानी से दिमाग आस्मानी ऊँचाइयो की ओर उठता है। उससे स्वभाव मे प्रभुता जागती और शील का भी उदय होता है। तब बारीक ख्याली भी आती है और कल्पना आदर्श की ओर उडान ले सकती है। पर यह भी है कि ये सुभीते छन में छिन सकते है और सपने धूल में आ मिल सकते है। देर नीचे वाले को यह पहचानने की है कि ऊपर वाले की तरह वह भी आदमी है।

आदमी और प्राणियो की तरह नही है। पक्षियो के पङ्ख है और

उपचार है। तब कहीं प्रकृति का अन्न मनुष्य का खाद्य बनता है। इसी तरह कपास को कपडे के रूप मे लाने तक तरह-तरह के उद्यम उस कपास के साथ आदमी को करने पडते हैं। अर्थात् आदमी के उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु सम्मिलित श्रम का फल है। यह सम्मिलितता यदि अखण्ड और स्थिर रहनी है तो जरूरी है कि समाज का कोई सदस्य अपने हिस्से के आवश्यक श्रम से बचे नहीं। जो श्रम से स्वयं बचता है, वह दूसरे शब्दो में अपने हिस्से का श्रम दूसरे के सिर पर लादता है। श्रम से बचने की इच्छा ही इस तरह समाज में विषमता और शोषण का बीज बोती है। वहीं से हिंसा कीटाणु का प्रवेश मानिए। अहिंसा की चरितार्थता इस तरह स्पष्ट ही है स्वेच्छित श्रम मे। दूसरे के प्रति सहानुभूति की कमी होगी तभी हम स्वयं श्रम से बचना चाहेंगे। मन दूसरे के लिए प्रीति से भरा होगा तब श्रम से अरुचि तो हमें होगी ही नहीं। उल्टे लगन होगी कि हम से जितना श्रम बन सके अच्छा। सबके श्रम का फल सबको मिले तो इसमे शंका नही कि किसी को किसी तरह की कमी न रहे। कठिनाई एक ओर तो यह होती है कि सब श्रम नही करते। दूसरी ओर से यह कि उसका फल हिसाब से नहीं बँटता। यही क्यो, यथार्थता तो यहाँ तक है कि जो श्रम करते हैं, फल उन्हीं को नहीं के बराबर मिलता है। और जो अपेक्षाकृत श्रम नही ही करते हैं, उन्हे इतना अधिक मिलता है कि श्रम करना फिर उनके और उनकी संतति के लिए असम्भव हो जाता है। तब श्रम करने की जगह श्रम कराना ही उन्हें अपना हक और पेशा जान पडता है। ऐसे समाज की सम्मिलितता भङ्ग होकर उसमे श्रेणी और दल पड जाते है। एक दल जो सिर्फ सिर और कन्धे झुका कर मेहनत करना जानता और उसी को अपना भाग्य मानता है। जो टुकडा उसके आगे डाल दिया जाय उसी पर वह पेट पालता है। यह वर्ग धीरे-धीरे पालतू चौपायों की हालत तक पहुँचता जाता है। दूसरी तरफ़ वह दल जो दूसरे की मेहनत के बल पर सिर्फ़ फ़ुरसत मे जीता है। खाली दिमाग़ में, कहते है, शैतान

बसता है इस वर्ग के पास रचनात्मक कुछ न रहने से खाली दिमाग के सब व्यवसाय इसे लग जाते हैं।

दलों मे कटी-फटी समाज तरह-तरह के कुचक्रों का शिकार बनी रहती हैं। श्रम और पूँजी के विग्रह का प्रश्न सदा वहाँ उपस्थित रहता है। कारण, सिक्का श्रम से अलग होने पर पूँजी बन जाता है और पूँजी फिर फ़ुरसत वाले लोगों का अस्त्र बन जाती है। असल मे तो श्रम ही धन है। श्रम के फल के विनिमय और वितरण के सुभीते के लिए सिक्का बना है। पर सिक्का जमा करके रखा जा सकता है। वह बिगडता नहीं, गलता नहीं। जीवन के उपभोग मे आने वाली चीज़ों का यह हाल नहीं है। एक परिमाण और समय से आगे उन्हे नही रखा जा सकता। वे पदार्थ छीजते और क्षय होते है। इसलिए सिक्के के संग्रह का लोभ उत्पन्न हुआ और वह अपने-आप में धन बनने लगा। आगे जाकर तो सिक्के और श्रम मे जैसे बैर हो गया। अधिकार-प्राप्त मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सिक्के की टकसाल हो गई और फैली हुई जनता के हाथ मे कोरा श्रम रह गया। बीच मे कुछ छुटभइयों की जमात बन खडी हुई, जो श्रम को ले-लेकर पूँजी के हाथों बेचने का काम करने लगी। ऐसे श्रम बिकना और चुसना आरम्भ हो गया। जहाँ श्रम क्रय और विक्रय की चीज़ हुई, वहाँ ही मानो श्रम से बचना, यानी फ़ुरसत (Liesure), जीवन का परम इष्ट हो गई। खरीदने वाला सस्ते-से-सस्ता श्रम को खरीदना चाहने लगा, और वह वर्ग, जिसके पास श्रम था और उसके सिवाय कुछ न था, बेमन और बेबस भाव से उस श्रम को बाज़ार-भाव बेचने के लिए लाचार हुआ। साफ़ है कि श्रमिक वर्ग की निगाह श्रम पर नही, फ़ुरसत पर है, जैसे कि और सब की है।

यह हालत अच्छी कैसे कही जा सकती है। निश्चय ही बिन मेहनत आदमी नहीं चल सकता, और नहीं जी सकता। यह उसकी विवशता नहीं, कृतार्थता है। यही पुरुषार्थ का धर्म आता है। इसी मे से मानव की सिद्धि है। मानव में मानवता का विकास पुरुषार्थ को

किनारा देकर चलने की कोशिश से नहीं सिद्ध होगा। श्रमहीन होकर मनुष्य कर्महीन और नीतिहीन भी हो जायगा। लेकिन फिर भी हम देखते हैं कि उद्यम को नहीं, फुरसत को लक्ष्य समझा जाता है। जहाँ फुरसत अपने-आप मे लक्ष्य हो वहाँ संस्कृति नहीं, स्वार्थ ही पनप सकता है।

श्रमण सस्कृति मे इससे उल्टे श्रम ही सार है। वही असल धन है। पूँजी श्रम के अतिरिक्त कुछ है ही नही। श्रम ही वहाँ असल मूल्य (Value) है। सिक्का उसका प्रतीक भर है। इसलिए श्रमण-दर्शन (सम्यक् दर्शन) मे सच्चा धनिक वह है, जिसके पास सहानुभूतिशील हृदय और स्वस्थ शरीर है। वही सच्चा धार्मिक है। कारण, स्नेह-भाव से वह स्वेच्छित श्रम करता है। ऐसा व्यक्ति अकिंचन है, कारण उसे जोडने की आकांक्षा और आवश्यकता नहीं है, वह सदा भरपूर है। वह अपरिग्रही है, क्योकि वह अपने सम्बन्ध में और भविष्य के सम्बन्ध मे भी निस्शंक है। उसमें चिन्ता और संशय की रिक्तता नहीं है कि उस गढे को भरने के लिए वह परिग्रह बटोरे।

विलायती एक शब्द है प्रॉलीतारियत (Porlıtarıat) उसका तात्पर्य कुछ ऐसा ही है। जिस वर्ग के पास उसका श्रम ही सब कुछ है। वह है प्रॉलीतारियत। लेकिन श्रमण को उससे बढकर मानना चाहिए। श्रमण मे स्नेह अतिरिक्त है। सर्वाहारा मे अपने बारे मे अभाव का भाव हो सकता है। अपनी अवस्था पर उसमे आक्रोश और शिकायत हो सकती है। पूँजीपतियो के लिए द्वेष और घृणा उसमे हो सकती है। श्रमण में इन सब प्रतिक्रियात्मक भावो के लिए अवकाश नहीं। जिनकी स्नेह की पूँजी लुट गई है और शरीर और मन का स्वास्थ्य भी जिन्होने खो दिया है, ऐसे पूँजीपति वर्ग के लिए श्रमण के मन मे करुणा है। जिनके पास द्रव्य का सञ्चय और परिग्रह का संग्रह है, श्रमण जानता है कि उनके पास आत्म-श्रद्धा का दिवाला है। उनके मन के स्नेह को संशय और अविश्वास ने खा डाला है। इस तरह वे प्राणी वास्तव में दीन और

दयनीय हैं। वे रुग्ण हैं और इलाज के पात्र है। रोगी पर रोष नहीं करना होगा, सेवा से उनका इलाज होगा। उन्हे समाप्त यदि नहीं करना है, स्वस्थ करना है तो यह काम स्नेह से हीन होकर कैसे किया जा सकेगा। रोग के साथ जिसमें रोगी का नाश होता हो वह चिकित्सा-शास्त्र अधूरा है और मिथ्या है। नाश की इच्छा मे ईर्ष्या का बीज है। धनिक की ईर्ष्या के नीचे धन की चाह दुबकी माननी चाहिए। इसलिए श्रमण पूँजीपति के द्रव्य को और साज-सामान की अनावश्यक अतिशयता को छीनना नही जाहता, बल्कि जड पदार्थ के उस भार से उस व्यक्ति को मुक्त देखना चाहता है। यहाँ भाषा का अन्तर न माना जाय, वृत्ति का ही अन्तर है। यानी श्रमण पूँजीपति-वर्ग को उपर के (सरकार के, कानून के, शक्ति के) दबाव से नहीं, बल्कि भीतर की (अन्तःकरण की, आत्म-जागरण की, स्नेह-प्रसार की) प्रेरणा से उसके रोग से उत्तीर्ण और स्वस्थ करना चाहेगा। धन छिनने से व्यक्ति मे से धन की लालसा नहीं छिनती। लोभ और संग्रह-वृत्ति का बीज उसमे मौजूद रहता ही है और वक्त पाते ही फल उठ सकता है। हृदय-परिवर्तन न हो तब तक कानून का घेरा-पहरा रहने पर भी व्यक्ति की असामाजिक वृत्तियों का खतरा बना ही रहता है।

समाजवाद भी समाज की इस विषता का इलाज सुझाता है। वह इलाज गणित का है। वह चौकस है और उसमे चूक निकालना मुश्किल है। क्या अच्छा था कि जीवन गणित के बस हो सकता ! पर वैसा होता नहीं। कभी हुआ नही, कभी हो पायेगा भी नहीं। कारण, मनुष्य पदार्थ नहीं है, वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप मे उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी नहीं है। वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी अनिष्ट है। हार्स पावर (Horse-Power) का १/१० आदमी नही है। आदमी को यदि हम वैसा बना दे सकें तो हिसाब की सचमुच बहुत सुविधा हो जाय। लेकिन शुभ संयोग की बात है कि हिसाब को

वैसा सुभीता देना मनुष्य के वश का नही है। उस अपने हृदय को बाद देकर वह जी ही नहीं सकता जिसकी गहराई मे स्नेह का वास है। अतः वह सहयोग, प्रेम और सेवा के बिना भी रह नहीं सकता। अपनी अन्तःप्रकृति से वह इस बारे मे विवश है। लौटकर पशु बनना उसके लिए सम्भव नही। हिल-मिलकर वह रहेगा, फूलेगा और फलेगा। बीच में कलह भी हो लेगी और लडाईयाँ भी हो बीतेंगी। उनको पार करता हुआ वह अतने हेल-मेल को बढाता ही जायगा। उसका अन्तस्थ प्रेम शत्रुता से परास्त न होगा। वह हारेगा नहीं और वैर की या युद्ध की सब बाधाओ को पार करके ही छोडेगा। वह चला चलेगा, बढ़ा चलेगा। यहाँ तक कि मनुष्य-जाति एक होगी और सब उसके लिए भाई-भाई होगे।

यह सपना सुलभ सबको है, पर श्रमण के लिए तो यह उसका व्रत भी है। उसको सामने रखकर वह अपना पग डिगायेगा नहीं। किसी तात्कालिक लाभ के लिए अपना व्रत वह भङ्ग नहीं करेगा। मानव-जाति के भविष्य को कीमत मे देकर कोई सुभीता अपने लिए वह नही जुटाएगा। राजनैतिक लाभ के लिए संस्कृति की हानि नहीं होने देगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसे शब्दो के लिए अहिंसा के ध्रुव को वह नहीं खोयेगा।

श्रम और उसके फल के विभाजन का सवाल आज का प्रमुख सवाल है। सवाल का हल अहिसक यानी श्रमण संस्कृति यों सुझा-वेगी : 'श्रम तुम्हारा धर्म है, फल में आसक्ति क्यो ?'

आज की समस्या विकट बनी हुई ही इस कारण है कि श्रम कोई नही चाहता, फल सब चाहते है। मेहनत नहीं, सब आराम चाहते है। लेकिन श्रमण फल की जगह श्रम को ही चाहेगा। वह आराम से बचेगा और मेहनत को हाथ में लेगा। वह सब कुछ जो भोग है उसके लिए त्याज्य होगा, क्योकि भोग मे श्रम-शक्ति का चय है। तप (स्वेच्छित) श्रम (अपने हिस्से लेकर) भोग (फलोपभोग) श्रमण दूसरे के

लिए छोड़ देगा। ऐसे ही आराम सब वह दूसरे के लिए मानेगा। उस आराम को अपने श्रम से पर-निमित्त जुटा देना ही वह अपना दायित्व जिम्मे समझेगा।

गीता मे यज्ञ को धर्म कहा है। बाइबिल की भाषा मे उसी को 'क्रास' कहते हैं। उस धर्म को श्रम के स्वेच्छित स्वीकार के आधार पर ही आज चरितार्थ किया जा सकता है। अन्यथा तो हमारे जीवन की नीव में हरण और हिंसा और अधर्म का रहना अनिवार्य ही है, फिर चाहे उस भवन का ऊपरी भाग कितना भी रम्य, आकर्षक और लुभावना क्यों न हो। ऊपर की मनोरमता से लुभा कर उस भवन मे हम चैन से बैठे रहेंगे तो अपने को धोखा ही देंगे।

संस्कृति का अहिंसक आरम्भ और निर्माण ही सम्भव है। अहिंसा से जहाँ च्युति है, वहाँ विकृति है। अहिंसक जीवन, अर्थात् सश्रम जीवन, अर्थात् फलभोग की ओर से निराग्रही जीवन। श्रमण-धर्म इसी जीवनादर्श को सामने रखता है और उसी में से मनुष्यता को त्राण मिल सकता है।

शान्ति-मूर्ति महावीर

अहिंसा को सबसे परम धर्म मानकर चलने वाले जैन-धर्म के प्रेरक पुरुष महावीर है। उन्हे उसका प्रवर्तक भी कहा जा सकता है। वह गौतम बुद्ध के समकालीन हैं, बल्कि कुछ वर्ष पहले हुए है। किन्तु जैसे बुद्ध बौद्ध-मत के प्रवर्तक थे उस अर्थ मे जैन-मत महावीर को अपना आदि पुरुष नही, वरन् चौबीसवाँ तीर्थंकर स्वीकार करता है, यानी वह मत किसी विशेष समय किसी विशेष व्यक्ति द्वारा बनाया और चलाया गया ऐसी उसकी मान्यता नही है, बल्कि वह तो जीवन-धर्म है और अनादि से चला आता है। तीर्थंकर तो उसे अपने जीवन मे सिद्ध और प्रगट करते है। एक कल्प मे ऐसे तीर्थंकर चौबीस होते हे और उनके पहले कुलचर होते हैं। जैन-मत ने काल के क्रम को एक शृंखला के रूप मे देखा है। एक बार वह ऊपर से नीचे आता है वह अव-सर्पिणी और नीचे से फिर उत्कर्ष की ओर जाता है वह उत्सर्पिणी कहलाता है। काल के इस एक कल्प मे जैसे मनुष्य की आत्मा की इस छोर से उस छोर तक विकास-यात्रा सम्पन्न होती है, मानो एक संस्कृति के आदि और अन्त का वह चित्र है।

जैन-धर्म इस तरह अपने को जीवन-धर्म मानता है। वह विजय का धर्म है, जीवन-व्यवहार का और जीवन के उत्कर्ष-साधन का धर्म है। यह सृष्टि कैसे और कहाँ से—जैसे इस प्रश्न को उसने पीठ दे दी

है और उस उलझन में पड़ने से अपने को बचा लिया है। कह दिया है सृष्टि तो अनादि है। उसके कर्ता का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल यह है कि यह सृष्टि जो दुख और उलझन से भरी है, जिसका रूप भव-बाधा है; उससे निस्तार कैसे मिले ? संसार बन्धन है, उसमें से जीव मोक्ष कैसे पाए ?

मोक्ष के उस सनातन प्रश्न के उत्तर को तीर्थंकरों ने अपनी अखण्ड-साधना से खोजा और पाया। आत्मा से परमात्मा हुए। जैन-मत में जीवात्मा से अलग परमात्मा कोई नही है। अपनी शुद्ध-बुद्ध मुक्तावस्था मे हर आत्मा परमात्मा है। अगर हम आपस मे अनेक है और सब अपनी अलग आत्मा अनुभव करते हैं तो कोई कारण नहीं कि अपने शुद्ध सिद्ध और चिद्रूप मे भी वह अनेकता न रहे। परमात्मा को एक होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे कर्त्ता नहीं होना है, अधीश्वर नहीं होना है। चिन्मय आत्मा स्वयं अपने स्वयं भाव को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा मे विकास-उत्कर्ष पाती चली जायगी। वह अनिवार्यता मानव-चेतना में गर्भित है, अलग से उसके लिए किसी नियम अथवा नियन्ता की आवश्यकता नहीं है। वह अपनी आत्म-साधना से परमावस्था को और परम-मुक्ति को प्राप्त करेगी।

इस तरह जैन-धर्म दार्शनिक जिज्ञासा से अधिक जीवन की उत्कर्ष चेष्टा मे से प्राप्त हुआ कहा जा सकता है और उसका तत्त्व-विधान इस लिए काफ़ी साफ़ सूत्रबद्ध हो सका है। यद्यपि पीछे जाकर उलझने उसमे भी खडी हुईं, लेकिन वे भेद-प्रभेद की थी अधिकांश अंक-सम्बन्धी थीं, मत-सम्बन्धी उतनी नहीं थीं।

तीर्थंकरो ने घोर साधना का तपश्चरण किया और आत्म को पाया तब उन्होने कहा—कि आत्म ही स्व है शेष पर है। यह जो हमारे समक्ष होने का पसारा फैला है, यह जो सारा संसार है, जीव और अजीव के मेल से बना है। जीव चित् तत्त्व है। अजीव अनात्म है, जड है पुद्गल रूप है। उसी के सम्पर्क से जीव नाना अधोगतियों मे परि-

भ्रमण करता और दु:ख उठाता है। वही कलुष और कल्मष का हेतु है, मुक्ति उसी के संग-दोष से मुक्ति है। आत्म की साधना में इस अनात्म परिहार के लिए नाना प्रयत्न-प्रक्रियाओ का विधान हुआ, उन सबका लक्ष्य था कि पुद्गल का स्पर्श छूटे। प्रतिक्षण नाना कर्म-वर्गणाओ का आश्रव हो रहा है, उनका सम्वर करना होगा। संचित पौद्गलिक कर्मों की निर्जरा करनो होगी। ऐसे ही कर्म-बन्ध कटेगा और निजानन्दावस्था प्राप्त होगी। जगत् मे नहीं, बल्कि जगत् के विराग में से जागतिक समस्याओ का निदान और समाधान प्राप्त करना होगा। यह श्रद्धा केवल भारतीय मनीषी की ही नहीं रही है; बल्कि दूसरे देश के साधकों मे भी यह लक्षण देखे जाते हैं। ईशु के प्रभु का राज्य उनका नहीं है जिनके पास संसार की प्रभुता है। वह तो केवल उनका है जिनके पास यहाँ का कुछ नहीं है।

जीवनोत्कर्ष की नीति खोजने की यह प्रणाली सहसा उलटी लग सकती है। लग सकता है कि यह तो जीवन से मुँह मोडना है, पलायन है। इसमे जीवन का घात है। ऐसे सीधी देखने वाली दृष्टि भोग से डरना नही चाहती। आगे बढ़कर वह सबको ले लेने के लिए तत्पर और आगत ही होने को तैयार है। वह जगत् से मोक्ष क्यों ढूँढे ? वह जगत् को ही ले लेगी। भोग लेगी, और उस से इधर-उधर देखने को भीरूता और कायरता मानेगी। इस दृष्टि मे से नाना कर्म-चेष्टाओं को जन्म मिल रहा है और जगत् निरन्तर कर्म-कोलाहल से भरा रहता है। यह दृष्टि शक्ति चाहती है, लोक-मत के संगठन मे से मिलने वाली सामुदायिक शक्ति का एकान्त नहीं, यह जन-सम्पर्क खोजती है। इस शक्ति-निर्माण में से वह जन-कल्याण साधना चाहती है। राज्य मे एक बडे समुदाय की कर्म-चेष्टाओं के सूत्र एकत्रित होते है, इसलिए राज्य-सत्ता को हाथ मे लेकर अनेकों का अनेक प्रकार का भला किया जा सकता है। साधु की रक्षा की जा सकती है। असाधु का दलन किया जा सकता है। सदाचार के और शान्ति के दुश्मनो का नाश किया जा

सकता है। ऐसे आचार का उत्कर्ष साधा जा सकता और उसको निष्पन्न किया जा सकता है।

इस दृष्टि को चाहे सांसारिक कहा जाय लेकिन उस कारण उसे गलत कहना जल्दी करना होगा। निश्चय ही उस के पीछे लगन है। और बहुत से विचक्षण पुरुष उसमे योग दे रहे हैं। अवश्य ही शान्ति की आवश्यकता है और उस आवश्यकता के बारे मे वे लोग सच्चे है, सक्रिय है। शान्ति के लिए ही युद्ध की बात करते है, अन्यथा यह उन्हे प्रिय नही है। हिंसक की ही हिंसा करना चाहते हैं। अन्यथा अहिंसा को आदर्श वे भी मानते है। उनकी केवल कठिनाई यह है कि वे ज़िम्मेदार लोग हैं और अपने तात्कालिक और सामाजिक दायित्व से अलग जाकर नहीं खड़े हो सकते। उन्हे जूझना है और जूझते रहना है। सिर्फ़ सिद्धान्त के तो वे बन नहीं सकते क्योंकि वे अकेले नहीं हैं, बहुत सा बोझ लेकर वे सबके साथ है। छोड-छाडकर जंगल की तरफ वे कैसे चल दें? यह मुश्किल है।

यह मुश्किल महावीर के लिए न हुई होगी, यह नहीं कहा जा सकता। वे राजपुत्र जन्मे, उनमे भी प्रश्न रहे होंगे पर सामने दायित्व रहा होगा। देखते होगे कि धन से, पद से, सत्ता से बहुतों का भला किया जा सकता है, बहुत-कुछ उपकार का काम किया जा सकता है। वह सब छोड़ना मोह की बाधा के कारण ही मुश्किल न होगा, बल्कि कर्त्तव्य विचार की भी बाधा रही होगी। अनेकानेक तात्कालिक कर्त्तव्य हमारी जकड बने रहते हैं। बन्धु-बान्धवों, नातो-रिश्तो के प्रति कर्त्तव्य अनिष्ट और अनीतिमूलक नहीं समझे जाते, बल्कि उचित ही समझे जाते है। उन सब कर्त्तव्यो के बीच में युवावस्था के महावीर की हम कल्पना कर सकते हैं। निश्चय वे मर्यादाशील व्यक्ति रहे होगे। हठ-धर्मीपन उनमे न होगा, मनमाना व्यवहार उनका न होता होगा। अहंकारी और प्रमादी होने की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक सब कर्त्तव्यो का निर्वाह अचूक भाव से वे करते रहे होंगे। फिर भी अनिवार्य हुआ कि

उन्होने घर छोड, राज छोडा, सब छोडा कि अपने को पाया। छोडने मे जिसको छोडा उसके प्रति अविनय नहीं था। शायद अस्वीकृति भी नही थी। सिर्फ अपने को पहले पर लेने की मजबूरी थी। इसलिए जब वह घर से गए तो सबके प्रति स्नेह से भरे रहे होंगे। सब की आत्मीयता अपने मे अनुभव करते रहे होंगे, ऐसे सब की क्षमा और सब के लिए असीस उनके साथ होगी। फिर भी उन्हें जाना हुआ तो इसलिए कि कुछ के बने रहकर उन्हे शान्ति न थी। निरपवाद सब के समष्टि भर के बने बिना उन्हे चैन न था। चीज अपने पास रखकर हम वह चीज़ ही दूसरे को दे सकते या बाँट सकते है। ऐसे अपने को देने से हम बच जाते है। सच मे अपने आपे को दिया जा सकता है। वही सब को मिलता है और मिलाता है बाकी देना अन्तराय रचता है और दूसरो से अपने को अलग रखने मे सहायता करता है। यह व्यथा ही थी जो उन्हे त्रास दे रही थी कि कैसे अपने को अशेष भाव से दे डालें। जगत् को कुछ नेतृत्व देने, शिक्षा देने, संगठन देने की स्पर्द्धा उनमें नहीं जग सकी। सहानुभूति की व्यथा ने उनमे और भाव आने न दिया। मालूम हुआ कि भीतर तक अपने मे निस्व होकर सब के अन्तरंग मे घुल-मिल जाए बिना उन्हें त्राण नहीं है, मुक्ति नहीं है।

यह प्रेम की व्यथा ऊपर से निर्भय ही दीख सकती है। उसमें छोडना और तपना दीख सकता है; क्योंकि उसके भीतर की आनन्द की उपलब्धि सहज गोचर नहीं होती और इसका उपाय अपने सत्व-विसर्जन के सिवाय दूसरा है भी नही। परिचित से अपरिचित, ज्ञात से अज्ञात और जन से निर्जन की ओर उनका प्रयाण हुआ। जैसे सत्व भाव छोडकर सब के सद्भाव पर उन्होंने अपने को डाल दिया। एक वही अवलम्ब रखा, शेष में वह नितान्त निरवलम्ब हो रहे। कृपा की भीख ही उन्हे भोजन हुई, सब का स्नेह ही उन्हे भोग हुआ।

यह दुर्धर्ष साधना थी। अनेकानेक उपसर्ग आये। उनका बाह्य रूप जिनका रोम-हर्ष वर्णन शास्त्रों मे मिलता है। रूपक-भर है। वह तो

स्थूल है बाहरी है। क्या-क्या यातनाएँ उन्हे नही दी गईं। कल्पना थर्रा जाय ऐसे कष्ट विरोधियो की ओर से उन्हे मिले, पर वे कष्ट कष्ट न थे। हमे उनका वर्णन कँपा देता है, पर आप मे अखण्ड-निष्ठ साधक वर्धमान के लिए कोई प्रश्न उपस्थित न करते थे। काया को पहुँचाया गया कष्ट तो कष्ट न था, जैसे वह इष्ट था, पर साधना असल यह थी कि प्रहार के उत्तर मे शरीर से लाल लहू न निकले मानो धवल दुग्ध निकले। साँस मे से आह की जगह असीस निकले और अभियोग की जगह अभिनन्दन।

महावीर के तपश्चरण का काल ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है। वैर और शत्रुता की उन्हे खबर मिली कि वह आतुर हो आये। सुनते ही अपने को वैरी और शत्रु मानने वाले उस व्यक्ति की तरफ खिचे-से चल पड़े। ऐसे सब शत्रु जीत लिए गए सो नहीं, पर महावीर अवश्य जिन बन गए क्योकि उन्होंने शत्रुता को जीत लिया। उस वैर का, विग्रह का अंकुर तक उनकी मनोभूमि मे से जड़ से उखड रहा। यह उनकी आत्म-साधना तत्त्व-साधना न थी, प्रेम-साधना थी। तत्त्व-साधना के पीछे अहं-विलास भी छिपा रह सकता है। अहिंसा के प्रति सजगता की अणु भर त्रुटि हो तो सत्य के नाम पर हममें अहं आ डट सकता है। इसलिए जो साधना निपट आध्यात्मिक है वह निरी एकान्तिक भी हो जाती है। खोलने की बजाय वह जकड भी बन चलती है। ऋजुता की जगह उसमे काठिन्य होता है जो व्यक्तित्व को धार देता है, सामन्जस्य नहीं। इसीसे महावीर की साधना में से अनेकान्त का दर्शन निकला यानी हठवादिता नहीं हो सकती। तत्त्व अनेक-विधि दीखेगा, निरूपण भी उसका अनेक रूप होगा। एक पर हर अनेक का असत्कार है इसलिए अनजाने वह सत्य का तिरस्कार बनता है।

इस असाध्य साधन की कथा, कठोर तपश्चरण की गाथा सुनाने का यहाँ अवसर नहीं है। उसका परायण मानवात्मा को साहस देने वाला है। उसकी निष्ठा इससे अडिग बनेगी। महावीर उस परीक्षा मे अकम्प

और ऊर्जस्व बने रहे। यहाँ तक कि कर्म सब गलित हुए और उन्हे कैवल्य लाभ हुआ। कैवल्य अर्थात् केवल सहानुभूति, केवल व्यथा केवल ज्ञान, केवल चैतन्य। कुछ भी वह नहीं जो अन्तराय बन सके, कहीं परता नहीं। स्वत्व की कहीं सीमा नहीं, इसलिए कोई उसकी स्थिति नही।

जानता हूँ महावीर की यह शान्ति-मूर्ति अलौकिक प्रतीत होगी। व्यक्तिगत संदर्भ से वह टूटी जान पडेगी। जान पडेगा कि यह तो व्यक्ति नहीं है, प्रतिभा है। यह बात सच ही है, लेकिन ढाई हजार संवत्सर पहले सत्तर-बहत्तर वर्ष इस संसार मे रहकर जो निर्वाण पाकर हमसे और इतिहास से लुप्त हो गए उन की चर्चा भी मैं कैसे करूँ! सब ब्योरे प्रामाणिक बनाकर जुटाये भी जा सकें तो वह अमुक व्यक्ति ऐतिह्य से आगे क्या बता सकेंगे। लेकिन जो महावीर अमर हैं, जिनको लक्ष-लक्ष जन अपने अन्तःकरण की पूजा देते है, जो कभी लुप्त न होंगे इस तरह सतत भाव से हमारे स्पन्दन मे जाग्रत रहते है, वही वास्तव है, वही सत्य हैं, क्योकि व्यक्ति से वे निर्वैयक्तिक हो सके है, व्यष्टि को समष्टि में समा सके हैं।

शान्ति की वे मूर्ति है क्योंकि उस अन्तरात्मा से उन्होंने साम्य साधा है जो सब कहीं एक है। जो विषम है, बाधक है उसको उन्होंने जीता है, इसलिए शान्ति उन्हे उतनी करनी नहीं हुई जितनी उनसे फूटती और विकीर्ण होती चली गई। आज के युग में जब शान्ति की बेहद खोज और बेहद प्यास है उस समय शान्ति के प्रतीक महावीर का उदाहरण हमे सही मार्ग का निर्देश देगा और हम शान्ति की चेष्टा का आरोप दूसरे पर करने से पहले उसका आरम्भ अपने से करना चाहेगे।

२

जिन महावीर की हम जयन्ती मनाते है, वह हमसे दो हजार वर्ष दूर हो गये है। लेकिन क्या हमने कभी सोचा है कि वह हमसे इतने दूर है? पास इतने बहुत से लोग है, उनकी जयन्ती मनाने की तो

बात हम लोग नहीं सोचते हैं। तब यही मानना चाहिए कि यह ढाई हजार वर्ष का अन्तर हमारे लिए अन्तर नही है। वह महावीर शायद उतने पहले होकर तभी समाप्त नहीं हो गये। वह तो समाप्त होने वाले ही नहीं हैं। जो कभी जन्मा था, एक दिन आया कि वह मर भी गया। लेकिन हम जिन महावीर को याद करके अपने अन्दर बराबर जगाये रखना चाहते हैं, वह तो एक तिथि से प्रकट होकर किसी दूसरी तिथि में लुप्त हो जाने वाले नहीं है। वह तो अतिथि है और देश-काल से अतीत, सच्चिदानन्द-मय कैवल्यरूप हैं।

पश्चिम से एक विधि आई है जिसे वैज्ञानिक कहते हैं। वह सभी ओर फल रही है। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र पर भी यह फैलना चाहती है। मै मानता हूँ कि यह उसकी स्पर्धा व्यर्थ है। अपने आदि को कोई स्वयं कैसे नाप सकता है? इस तरह बुद्धि श्रद्धा को नाप नहीं सकती, इस प्रयास में अपने को ही घायल कर सकती है। खैर, इस विलायत से आई हुई विधि की मजबूरी से लोग महावीर को इतिहास में ठीक-ठीक बिठाकर देख लेना चाहते हैं।

वह कोशिश पूरी कामयाब नहीं हो रही है। श्रद्धा से, परम्परागत भाव से कुछ-न-कुछ हम तो उन लोगों को प्राप्त हैं जो अपने को उनका अनुयायी मानते हैं। अनिवार्य है कि वह रूप यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक बढ़ा हुआ हो। इस तरह स्वभावतः महावीर के रूप एकाधिक हो गये हैं। श्वेताम्बर-परम्परा मे उनके चरित्र को एक प्रकार से माना है। दिगम्बर लोग, कुछ दूसरी ही परम्परा को मान्य करते हैं। एक जगह वह परिवार के है, पति है और पिता हैं। दूसरी जगह बाल-ब्रह्मचारी हैं।

इतिहासज्ञ के लिए यह प्रयत्न जरूरी हो सकता है कि वह जाने कि व्यक्ति-रूप मे महावीर क्या थे? यो वह खोजी भी यह सब कुछ जान-जोडकर अन्त मे क्या लाभ उठायेगा, मेरी समझ मे नही आता। लेकिन चलो, जिसकी यह धुन है वह उसे पूरा करे। लेकिन धार्मिक के

लिए वह सब काम बिल्कुल भी जरूरी नही है। इतिहास में महावीर हों न हों, या कम-अधिक प्रबल और प्रख्यातरूप में हों; धार्मिक के मन में तो वह उसके सर्वस्व बनकर बैठे हुए है ही। निश्चय ही वह उनका वह रूप है, जो धार्मिक के चित्त को पूर्ण तुष्टि देता है। निश्चय वह श्रद्धा और परम्परागत मान्यता का बना हुआ रूप है, किन्तु उसके लिए वही सर्वथा सत्य है, वही आदर्श है, वही यथार्थ भी है।

ऐसा समझ लें तो महावीर से हम पूरा-पूरा लाभ पा जायँ। अन्यथा हम महावीर को लेकर आपस में द्वेष भी पैदा कर सकते हैं। साम्प्रदायिक और सांसारिक जन अक्सर अपने इष्ट को लेकर इस प्रकार की उलझन अपने आसपास खड़ी कर लेते हैं और जो उपास्य मुक्ति के लिये है, उसी को बन्धन का कारण बना डालते हैं।

महावीर की ऐतिहासिकता मे, उनकी वैयक्तिकता में मैं नहीं जाऊँगा। जैन के नाते उन्हे मेरा उपास्य ही रहना चाहिये, शल्य-क्रिया का पात्र मै उन्हे नही बना सकता। यदि वैसा करना हो तो उन्हे अपना तीर्थंकर, अपना भगवान् मानने से छुट्टी पा लेना जरूरी है। दोनो काम साथ नही चल सकते हैं।

लेकिन जो हमारे लिए परम इष्ट बना, यहाँ तक कि हम उसे भगवान् कहते है, तो वह बना कैसे? स्पष्ट है कि आरम्भ उसने व्यक्ति होकर किया फिर साधना से उसका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर ऐसा विराट् होता चला गया कि उस व्यक्ति मे समष्टि की झाँकी मिल उठी। चरम और अन्तिम सत्य तो निर्गुण निराकार है। वह अलख निरंजन है। इन्द्रियों से हम उसे कैसे पाएँ? इससे जब कोई अपने स्वरूप में से उस अरूप की झाँकी दे देता है तो वह स्वरूप ही हमारे लिए सर्वेश्वर का रूप हो उठता है। इसमे अन्यथा कुछ नहीं है। भक्ति अपनी सार्थकता के लिए अगुण को सगुण बना ही लेगी। नहीं तो हम जीव-जन अपनी उपासना, आराधना, प्रार्थना का नैवेद्य ही कहीं नहीं दे पाएँगे।

अब जितने भी रूपों में महावीर हमारे बीच विद्यमान हैं, उन सब में ही एक बात तो सामान्य है, उस बारे मे तनिक भी विकल्प नहीं हैं। वह यह कि अच्छे सम्पन्न कुल में उन्होंने जन्म पाया। राजपाट का भोग उनके समक्ष था। लेकिन एक दिन वह सब छोड उन्होंने वन की राह ली और वहाँ से ही जो पाया सो पाया।

यह बात बार-बार सोचने लायक है। अपनी सम्पदा से, धन-धान्य की विपुलता से क्या वह बहुत-कुछ उपकार और लाभ नहीं कर सकते थे? क्या दुखी और दीनजन तब न रहे होंगे? क्या उस धन से और पद से उन दीन-दुखियो की बहुत-कुछ सेवा नहीं की जा सकती थी? क्या और लोग, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव उनसे यह अपेक्षा न रखते होंगे? क्या उनकी इस आशा को पूरा करना उन पर कर्तव्य न था? क्या इस प्रकार अनायास भाव से मिली हुई धन-सम्पदा को परोपकार मे लगाना सत्कर्म और उचित कर्म न था?

फिर यह क्यो हुआ कि उन्होंने यह सब-कुछ न किया। वह सब कुछ धन धान्य, पद-सम्पदा, कर्म-कर्तव्य उन्होंने छोडा क्यो? सब-कुछ होकर न-कुछ होने की राह क्यो पकड़ी?

इस जगह बार-बार मेरा ध्यान जाता है और डूब जाता है। मालूम होता है कि सत्य की साधना का मर्म भी यहीं है।

नहीं, मैं उस मर्म का उद्‌घाटन नहीं कर सकूँगा। क्योंकि सन्तोष मुझे नहीं है कि मैं उसे अच्छी तरह प्राप्त कर सका हूँ। साथ ही यह भी सच है कि उस मर्म को तो आत्म-वेदना में से सब को स्वयं ही उपलब्ध कर लेना होगा। किसी दूसरे की कोशिश कभी अपने काम नहीं आएगी। अन्त में मेरी भावना है कि हम लोग सब उस भेद को अपने लिए खोलने का प्रयास करेंगे और अपनी अनुभूति में उसका उत्तर क्रमशः घनिष्ठ भाव से उतारते जाएँगे।

परम सांख्य

आदमी ने जबसे अपने होने को अनुभव किया तभी से यह भी पाया कि उसके अतिरिक्त शेष भी है। उसकी अपेक्षा मे वह स्वयं क्या है और क्यों है? अथवा कि जगत् ही उसकी अपेक्षा मे क्या है और क्यो है? दोनो मे क्या परस्परता और तरतमता है?—द्वैत-बोध के साथ ये सब प्रश्न उसके मन मे उठने लगे।

प्रश्न मे से प्रयत्न आया। आदमी मे सतत प्रयत्न रहा कि प्रश्न को अपने मे हल कर ले। पर हर उत्तर नया प्रश्न पैदा कर देता रहा और जीवन, अपनी सुलझन मे और उलझन मे, इसी तरह बढ़ता रहा।

सत्य यदि है तो आकलन मे नही जमेगा। ऐसे सत्य शांत और जड हो जायगा। जिसका अन्त है, वह और कुछ हो, सत्य वह नहीं रहता।

पर मनुष्य अपने साथ क्या करे? चेष्टा उससे छूट नहीं सकती। उसके चारो ओर होकर जो है, उससे निरपेक्ष बनकर वह जी नहीं सकता। प्रत्येक व्यापार उसे शेष के प्रति उन्मुख करता है। वह देखता है तो वर्ण, सुनता है तो शब्द, छूता है तो वस्तु। इस तरह हर क्षण के हर व्यापार मे वह अनुभव करता है कि कुछ है, जो वह नहीं है। वह अन्य है और अज्ञात है। प्राप्त है और अप्राप्त है। यदि सत्य है तो हर पल बन-मिट रहा है। यदि माया है तो हर क्षण प्रत्यक्ष है।

अपने साथ लगे इस शेष के प्रति मनुष्य की कामना और क्रीडा, उसकी जिज्ञासा और जिघांसा, कभी भी मन्द नहीं हुई है। आदमी ने चाहा है कि वह सबको अपनी समझ मे बिठा ले, या समझ से मिटा दे। किसी तरह सब मे, या सबसे वह मुक्त हो। उसके अपने आत्म के बाहर यह जो अनात्म है, इसकी स्वीकृति से, सत्ता से, परता से किसी तरह वह उत्तीर्ण हो जाय। या तो उसे बाँधकर वश मे कर ले, या तर्क के जोर से गायब कर दे, या नहीं तो फिर अपने को ही उसमे खो दे। अनात्म के मध्य आत्म अवरुद्ध है। या तो परत्व मिटे या सब स्व-गत हो, या फिर स्वत्व ही मिट जाय।

अपने चारों ओर के नाना रूपाकार जगत् को मनुष्य ने चाहा कि पा ले, पकड़ ले, और ठहराकर अपने में ले ले। सत्य को अपने से पर रहने दे कर वह चैन से नहीं जी सका। छटपटाता ही रहा कि उसे स्वकीय करे।

इस मुक्ति की या पूर्णता की अकुलाहट में मनुष्य ने नाना धर्मों, साधनाओं और दर्शनों को जन्म दिया।

मुक्ति की ओर का प्रयत्न जब मनुष्य का सर्वांगीण और पूर्ण प्राणपण से हुआ तब दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ। तब व्यक्तित्व को ही परिष्कार मिला। सीमाएँ मिटकर उसमे समष्टि की विराटता आई। दर्शन तब उससे स्वतः फूटा। धर्मों के आदि स्रोत ऐसे ही पुरुष हुए। उन्होंने दर्शन दिया नही। देने को उनके पास अपनी आत्मरूपता ही रही। परिणाम मे वे एक साथ सब दर्शनों के लिये सुगम और अगम बन गए।

दर्शन बनता और मिलता है तब, जब प्राणों की विकलता की जगह बुद्धि की तीव्रता से प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट ही वह प्रयत्न अविकल न होकर एकांगी होता है। इसमे व्यक्ति 'असल नही उसकी तस्वीर' ही पाता है। इस तरह स्वयं (सत्य का) प्रकाश नहीं होता या प्रकाश देता है, बल्कि, शब्दों अथवा तर्कों के संयोजन द्वारा उस प्रकाशनीय तत्त्व

का वर्णन देता है।

अतः दर्शनकार वे हैं जो सत्य जीते नहीं, जानते हैं। जीने द्वारा सत्य सिद्ध होता है। वैसा सत्य जीवन को भी सिद्धि देता है। पर जानने द्वारा सत्य सीमित होता है और ऐसा सत्य जीवन को भी सीमा देता है।

जीवन मे से धर्म प्राप्त होता है। प्रयत्न में से दर्शन।

यह दर्शन भी विविध है। एक सीधा देखा गया। दूसरा अनुमाना गया। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों मे अधिकांश यह अन्तर है। पहले आदर्श की एकता से यथार्थ की अनेकता पर उतरते है। दूसरे तल की विवधता से आरम्भ करके तर्कशः शिखर की एकता की ओर उठते है।

प्राच्य दर्शनो का आरम्भ इसी से ऋषियो से होता है, जो जानने से अधिक साधते थे। यहाँ के दर्शनों की पूर्व-पीठिका है उपनिषद्, जो काव्य हैं। उनमें प्रतिपादन अथवा अंकन नहीं है। उनमे केवल अभि-व्यंजन और गायन है।

हृदय-द्वारा जब हम निखिल को पुकारते और पाते हैं तब शब्द अपनी सार्थकता का अतिक्रमण करके छन्द और लय का रूप ले उठते हैं। तब उनमे से बोध और अर्थ उतना नहीं प्राप्त होता, जितना चैतन्य और स्पन्दन प्राप्त होता है। वे बाहर का परिचय नही देते, भीतर एक स्फूर्ति भर देते है।

किन्तु सबुद्धि मानव उसे अखंड रूप से अनुभूति में लेकर स्वयं अभिभूत हो रहने से अधिक उसे शब्द मे नाप-आंक कर लेना चाहता है। ऐसे सत्य उसका स्वत्व बन जाता है। शब्द मे नपतुल कर वह मानो संग्रहणीय और उपयोगी बनता है। उसे अंकों में फैलाकर हम अपना हिसाब चला सकते हैं और विज्ञान बना सकते हैं।

शिशु ने ऊपर आसमान मे देखा और वह विह्वल हो रहा। शास्त्री ने धरती पर नकशा खींचा और उसके सहारे आकाश को ग्रह-नक्षत्रों में बाँट कर उसने अपने काबू कर लिया।

शब्दों का और अंको का यह गणित हुआ आयुध, जिससे बौद्धिक ने सत्य को कीलित करके वश में कर लिया। असंख्य को संख्या दे दी, अनन्त को परिमाण दे दिया, अछोर को आकार पहनाया और जो अनिर्वचनीय था, शब्दो द्वारा उसी को धारणा मे जड लिया।

उद्भट बौद्धिकों का यह प्रयत्न तपस्वी साधको की साधना के साथ-साथ चलता रहा।

मेरा मानना है कि जैन 'धर्म' से अधिक 'दर्शन' है, और वह दर्शन परम सांख्य और परम बौद्ध है। उसका आरम्भ श्रद्धा एवं स्वीकृति से नही, पश्चिम के दर्शनो की भाँति तर्क से है। सम्पूर्ण सत्य को शब्द और अंक मे बिठा देने की स्पर्धा यदि किसी ने,अटूट और अथक अध्यवसाय से की तो वह जैन-'दर्शन' ने। वह दर्शन गणित की अभूतपूर्व विजय का स्मारक है।

जगत् अखंड होकर अज्ञेय है। जैन-तत्त्व ने उसे खंड-खंड करके सम्पूर्णता के साथ ज्ञात बना दिया है।

"जगत् क्या है?"

चेतन-अचेतन का समवाय।

"चेतन क्या है?"

हम सब जीव।

"जीव क्या है?"

जीव है आत्मा। असंख्य जीव सब अलग-अलग आत्मा है।

"अचेतन क्या है?"

मुख्यता से वह पुद्गल है।

"पुद्गल क्या है?"

वह अणुरूप है।

"पुद्गल से शेष अजीवतत्त्व क्या है?"

काल, आकाश आदि।

"काल क्या है?"

वह भी अणुरूप है।

"आकाश क्या है?"

अनन्त प्रदेशी है।

"आदि क्या?"

चलना ठहरना जो दीखता है, उसके कारण रूप, तत्त्व इस आदि में आते है।

इस तरह सम्पूर्ण सत्ता को, जो एक ओर इकट्ठी होकर हमारी चेतना को अभिभूत कर लेती है, अनन्त अनेकता में बाँटकर मनुष्य की बुद्धि के मानो वशीभूत कर दिया गया है। आत्मा असंख्य है, अणु असंख्य और अनन्त है। उनकी अपनी सत्यता मानो सीमित और परिमित है। यह जो अपरिसीम सत्ता दिखाई देती है, केवल-मात्र उस सीमित सत्यता का ही गुणानुगुणित रूप है।

जैन-दर्शन इस तरह शब्द और अंक के सहारे उस भीति को और विस्मय को समाप्त कर देता है, जो व्यक्ति सीधी आँखो इस महाब्रह्मांड को देखकर अपने भीतर अनुभव करता है। उसी महापुलक, विस्मय और भीति के नीचे मनुष्य ने जगत्-कर्त्ता, जगद्धर्त्ता, परमात्मा, परमेश्वर आदि रूपों की शरण ली है। जैन-दर्शन उसको मनुष्य के निकट अनावश्यक बना देना चाहता है। परमात्मत्व को इसलिए उसने असंख्य जीवो मे बखेर कर उसका मानो आतंक और महत्त्व हर लिया है। ब्रह्माण्ड की महामहिमता को भी उसी प्रकार पुद्गल के अणुओ में छितरा कर मानो मनुष्य की मुट्ठी मे कर देने का प्रयास किया है।

जैन-दर्शन की इस असीम स्पर्धा पर कोई कुछ भी कहे, पर गणित और तर्क-शास्त्र के प्रति उसकी ईमानदारी अपूर्व है।

मूल मे सीधी मान्यताओं को लेकर उसी आधार पर तर्क-शुद्ध उस दर्शन की स्तूपाकार रचना खडी की गई।

मैं हूँ, यह सबुद्धि मनुष्य का आदि सत्य है। मैं क्या हूँ? निश्चय हाथ-पाँव आदि अवयव नहीं हूँ, इस तरह शरीर नहीं हूँ। जरूर कुछ

इससे भिन्न हूँ। भिन्न न होऊँ तो शरीर को मेरा कहने वाला कौन रहे? इससे मै हूँ आत्मा।

मेरे होने के साथ तुम भी हो। तुम अलग हो, मैं अलग हूँ। तुम भी आत्मा हो और तुम अलग आत्मा। इस तरह आत्मा अनेक हैं।

अब शरीर मै नहीं हूँ। फिर भी शरीर तो है। और मैं आत्मा हूँ। इससे शरीर आनत्म है। अनात्म अर्थात् अजीव, अर्थात् जड।

इस आत्म और अनात्म, जड और चेतन के भेद, जड की अणुता और आत्मा की अनेकता—इन प्राथमिक मान्यताओ के आधार पर जो और जितना कुछ होता हुआ दीखता है, उस सब को जैन-तत्त्व-शास्त्र ने खोलने की और कारण-कार्य की कडी मे बिठाने की कोशिश की है। इस कोशिश पर युग-युगो में कितनी मेधा-बुद्धि व्यय हुई है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। वर्तमान मे उपलब्ध जैन-साहित्य पर्वताकार है। कितना ही प्रकाश मे नहीं आया है। उससे कितने गुना नष्ट हो गया, कहना कठिन है। इस समूचे साहित्य में उन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर जीवन की और जगत् की पहेली की गूढ-से-गूढ उलझनों को सुलझाया गया और भाग्य आदि की तमाम अतर्क्य-ताओ को तर्क-सूत्र में पिरोया गया है।

आत्म और अनात्म यदि सर्वथा दो हैं तो उनमे सम्बन्ध किस प्रकार होने में आया—इस प्रश्न को बेशक नहीं छूआ गया है। उस सम्बन्ध के बारे मे मान लेने को कह दिया गया है कि वह अनादि है। पर उसके बाद अनात्म, यानी पुद्गल, आत्म के साथ कैसे, क्यो, कब, किस प्रकार लगता है, किस प्रकार कर्म का आस्त्रव होता है, बन्ध होता है, किस प्रकार कर्म-बन्ध फल उत्पन्न करता है, आदि-आदि की इतनी जटिल और सूक्ष्म विवेचना है कि बडे-से-बड़े अध्यवसायी के छक्के छूट जा सकते हैं।

फिर उस कर्म-बन्ध की निर्जरा यानी क्षय किस प्रकार होगा, आस्त्रव (आने) का संवर (रुकना) कैसे होगा और अन्त मे अनात्म

से आत्म पूरी तरह शुद्ध होकर कैसे बुद्ध और मुक्त होगा, इसकी पूर्ण प्ररूपणा है।

इतना ही नही, जैन-शास्त्र आरम्भ करके रुकता अन्त से पहले नही। मुक्त होकर आत्मा लोक के किस भाग मे, किस रूप मे, किस विधि रहता है, इसका भी चित्र है।

संक्षेप मे वह सब जो रहस्य है, इससे खीचता है, अज्ञात है, इससे डराता है, असीम है, इससे सहमाता है, अद्भुत है, इससे विस्मित करता है, अतर्क्य है, इससे निरुत्तर करता है—ऐसे सब को जैन-शास्त्र ने मानो शब्दो की और अंको की सहायता से वशीभूत करके घर की साँकल से बाँध लिया है। इसी अर्थ मे मै इस दर्शन को परम बौद्ध और परम सांख्य का रूप मानता हूँ। गणना-बुद्धि की उसमे पराकाष्ठा है। उस बुद्धि के अपूर्व अध्यवसाय और स्पर्धा और प्रागल्भ्य पर चित्त सहसा स्तब्ध हो जाता है।

अँधेरे में प्रकाश

यह बीसवी सदी जान पडती है, मानव-विकास के इतिहास मे सन्धि की कड़ी होने वाली है। सत्रहवीं सदी के आस-पास श्रद्धा के युग को पीछे छोड़ कर, बुद्धि का वाद उपजा। उसने ईश्वर का आसरा छोडा और अपना भरोसा बाँधा। मालूम हुआ कि प्रकृति मे तरह-तरह की शक्ति के स्रोत बन्द पडे है। मनुष्य उन्हे खोलेगा और अपने वश मे करके इस धरती पर विपुलता का स्वर्ग उतार सकेगा। बुद्धि ने तर्क और गणित के सूत्र से नए-नए आविष्कार किए। कल-कारखाने खड़े हुए, और भद्र-सभ्यता का उदय हुआ। यह सभ्यता पदार्थ की अतिशयता चाहती थी और शक्ति पर कब्जा। इस तरह यह सभ्यता राजनीतिक थी और कूटनीति इसका अंग थी।

वह बुद्धि-विज्ञान का युग अपना उत्कर्ष साधता चला आया है। समाज बने हैं, साम्राज्य बने है और अति विराट पूँजी-चक्र खडे हुए है। एक-एक कम्बाइन के पेट मे करोडो जनो का भाग्य समा गया है। सभ्यता अपने इतने चरम-उत्कर्ष पर आ पहुँची है कि जो उसके शीर्ष पर है मानो वह उतना ही हृदय से हीन होने को लाचार है। यह बौद्धिक सभ्यता है और भावुकता यहाँ की सब से बडी कमजोरी है। इसमें हिसाब है, जिसे विज्ञान का रूप मिला है और जिसका शास्त्र बन उठा है। मानो वह शास्त्र (पोलिटिकल-एकोनोमिक) जोवन का

ही शास्त्र हो।

मानव-इतिहास के एक गहन विवेचक ने स्थिर किया था कि किस प्रकार एक संस्कृति उदय में आकर, अपना चरम उत्कर्ष साधकर अस्त की ओर ढल पड़ती है। उसका काल-निर्णय भी उसने किया था। यह यह भी उसका अनुमान था कि जिस संस्कृति को हम पाश्चात्य कह कर निर्दिष्ट कर सकते हैं—अपने चरम बिन्दु पर आ पहुँची है और यही उसके अस्तकाल के आ पहुँचने का लक्षण है।

वह जो हो यह प्रत्यक्ष है कि आज बुद्धि का हृदय पर इतना दबाव है कि मनुष्य अधिक काल उसे नहीं सह सकता, मानो जीवन मे एक गम्भीर द्वन्द मच उठा है। राजनीतिक भाषा उसे डिमोक्रेसी और डिक्टेटरशिप, पूंजी और श्रम का द्वन्द कहे पर वह इन शब्दों से अधिक गहन और अधिक मूलगत है। वह मानवता का अन्तर्द्वन्द है और असह्य होने के निकट आ गया है। प्रकृति अधिक काल दिल और दिमाग के बीच का खिचाव बर्दाश्त नही कर सकती और यदि दोनो मे सामन्जस्य नहीं होता तो एक के प्रभुत्व के बाद प्रतिक्रिया मे दूसरे के प्रतिवाद को आना ही होगा। बुद्धि ने विज्ञान को और उसकी महा-शक्ति को स्पष्ट करके मानव की सहज-श्रद्धा को सदियो स्तब्ध किए रखा। आदमी, जो सरकता था, उड़ने लगा। दुनियाँ, जो अनन्त थी, उसके लिए अत्यन्त सीमित हो गई। देश के लिये विदेश मिट गया और मानो ओर से छोर आ मिला। घंटो मे आप दुनियाँ पार कर लीजिए और यहाँ बैठे-बैठे सब कोनो से बात कर लीजिए। यह तो हुआ लेकिन साथ ही उसने पाया जब दूर का आदमी उसे पास हो गया है तब पास का आदमी लगभग उतनी ही दूर उससे पड़ गया है। तब हर आदमी किसी का पड़ोसी था और पड़ोसियों को एक-दूसरे का सहारा था। अब हर आदमी अपने में है और हर दूसरा आदमी उससे अलग पराया है। हर दो व्यक्ति आज दो हैं। पति-पत्नी भी एक नहीं, आज आपस मे दो बनकर रहते हैं। और यह अध्यात्मिक धरातल पर

नहीं है, जहाँकि व्यक्ति का अपने अन्तर्निहित-परमात्मा के साथ संबन्ध का प्रश्न है; बल्कि आर्थिक-धरातल पर, जहाँ कि पदार्थ का हिसाब है।

इस पदार्थ-बुद्धि से संचालित संस्कृति का जोर रहा। भारत सबसे पिछड़े मुल्कों में गिना गया, वह श्रद्धा का देश था। उसी नमूने पर उसकी समाज-व्यवस्था थी। यहाँ से वहाँ तक खेतो के बीच मे टकी बूँदो से गांव उसमें फैले थे। अधिक से-अधिक कस्बे थे, शहर जैसी तो कोई चीज न थी। ग्राम केन्द्रित थे उनकी अर्थ-व्यवस्था थी और ग्राम-जीवन का सार था। सम्पदा मे गौ, धान्य, परिवार और धरती आदि की गिनती थी। सिक्का चलन मे था तो गौण भाव से। समाज का श्रेष्ट-जन सम्पत्तियुक्त होता था। सब की चिन्ता थी इससे अपनी चिन्ता का उसे अवसर न था। इससे उसकी चिन्ता औरो का कर्त्तव्य हो जाती थी। इस नीति से चलने वाला यह भारत-देश सचमुच पिछड़ रहा है और बन्दूक-बारूद और कल-कारखानो में आगे बढ़ने वाला इंग्लैंड के वह आधीन हो रहा है।

इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भारत की धर्म-श्रद्धा काफी न थी। बुद्धि का योग उसमे चाहिए था। कौन जाने इतिहास मे उसके साथ पश्चिम का योग इसी निमित्त से हुआ हो। लेकिन आज के दिन इतिहास की समाप्ति भी नहीं है और यह समझने का भी कारण नही है कि विज्ञान-बुद्धि से ही काम चलेगा और श्रद्धा के लिए कोई अवकाश नहीं।

विलायतो की दुर्व्यवस्था प्रत्यक्ष है—राजनीति वहाँ अस्तव्यस्त है और आन्तरिक द्वन्द्व फूटते दीख रहे है। तमाम जीवन की नीति ही वहाँ की अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। चिन्तक लोग चिन्ता मे हैं और इस निष्कर्ष पर आ रहे है कि मूल में कहीं किसी अनिवार्य तत्त्व की उनके यहाँ कमी है। इससे सब-कुछ होने पर भी भीतर एक सन्देह और खोखलापन है। उस जीवन में समाधान नही है; जो सदियो के प्रयत्न से उन्होंने निर्माण किया।

ऐसे समय मुझे मोह है यह मानने का कि भारत की प्रकृति में, उस की निजता में कुछ है, जो वह विश्व को दे सकता है और जिसकी विश्व को आवश्यकता है। बाइबिल में आता है—आगे दीखते है, पीछे होंगे और जो बिछुडे हुए हैं, सबसे आगे पाए जाएँगे। लगता है कुछ ऐसी ही मौलिक क्रान्ति होने का समय आया है। आज जिस लाख और करोड पर सम्भ्रम है, कल हो सकता है व्यक्ति का लांछन समझा जाय। इसी तरह हो सकता है कि वे राष्ट्र जिनके पास सैन्यबल है और अस्त्र-शस्त्रों का बल है—विश्व की जनता के लिए सम्भ्रम, आतंक और ईर्ष्या का विषय न रहे बल्कि अभियोग के पात्र बन आए। लक्षण दीख रहे है कि जगत् का लोक-मत जाग रहा है और इन चीजो की पहचान की ओर बढ रहा है। उस वक्त जब कि जगत् करवट लेगा और सामान्य मानवता जाग पडेगी तब अपने प्राणों मे अहिंसा और अपरिग्रह की श्रद्धा लेकर प्राचीनता से आज तक जीवित रहने वाला भारत शायद मार्ग-दर्शन के लिए आगे होगा। हालत आज यहाँ की निराशा पैदा करती है, उससे ग्लानि होती है। भाई-भाई को मार रहा है। सवाल है कि भारत भारत रहेगा या कट-छटकर और-और नामो में बँट जायगा। ऐसे मे महत्त्वाकांक्षा के स्वप्नों को पोसना मूढ़ता समझी जा सकती है, पर अनबन सदा नहीं रहेगी। पडोसियो को मिलना होगा। और अंग्रेज के चले जाने पर उस मिलने की लाचारी इतनी जबरदस्त हो जायगी कि उसके जवाब में भारत की प्रति भा अधिक काल सोई नहीं रह सकेगी। तब एक महा समन्वय होगा और भारत की अन्तःशक्ति वेग से फूट पडेगी।

नहीं समझा जाय कि भारत की वह अन्तःशक्ति मूर्छित है और अन्दर-ही-अन्दर काम नहीं कर रही है। लेकिन एक कृत्रिमता ने उसे ढक रखा है। भारतीय भाषाओं में वह अब भी व्यंजन है लेकिन अन्त-प्रान्तीय बन कर जो आज अंग्रेजी हमारी राजनीति, हमारी राष्ट्रीयता

की ओर सामूहिकता को चला रही है, उसने उधर से हमारी आँखें मोड़ रखी है। अंगरेजियत मे से भारत का शतांश भी नही दीख सकता। लेकिन इस ऊपरी अंगरेजियत मे से ही भारत का अनुमान लिया जाता और दिया जाता है। अंग्रेजी की एसेम्बली, अंग्रेजी के पत्र अंग्रेज़ी के दफ्तर, अंग्रेजी की सरकारें। इससे जो असल भारत है मानो वह अनपहिचाना रह जाता है। राष्ट्र के काम-काज में उस असली भारत का पूरा योग नहीं हो पाता।

बदनसीबी यह है कि राष्ट्रभाषा पर ऐसा झगड़ा है कि उस काम के लिए जैसे अंग्रेजी भी शेष बच रहती है। प्रान्तो की समझे जाने वाली भाषाओ और बोलियों मे भारतीयता का स्पन्दन और ध्वनि मिल सकते है लेकिन वे अलग-अलग हैं और कई है। इसलिए वह प्रकृत भारतीयता एकत्रित नही हो पाती। अंग्रेजी के द्वारा फिर जिस एकत्रित भारतीयता का प्रतिनिधित्व होता है, वह ऊपरी और सतह की हो होती है।

भारतीयता को पनपना है तो यह दुर्भाग्य जितनी जल्दी दूर हो अच्छा है।

एशियाई-सम्मेलन हो रहा है, जो अच्छी ही बात है। पर स्थायी-परिणाम के लिए तो ज़रूरी है कि राजनीतिक ही नही, सांस्कृतिक और सम्पूर्ण भारत एशिया के और देशों की सांस्कृतिक वास्तविकता से सम्पर्क स्थापित करे। सचमुच आगामी इतिहास मे एशिया को बडा भाग लेना है। पश्चिम यदि बुद्धि के प्रागल्भ का प्रतीक है तो एशिया सहृदयता का। उसमें हिन्दुस्तान के जिम्मे कर्म-दायित्व का भार नहीं आने वाला है।

एशियन-कान्फ्रेंस के तत्काल बाद भारत का साहित्य-सम्मेलन भी होने वाला है। सब भाषाओ के चिन्तक और स्रष्टा उसमे सम्मिलित होगे। साहित्य,संस्कृति का वाहक है। इस तरह अन्तरंग से उस सम्मेलन को सांस्कृतिक सम्मेलन कहना चाहिए। वह संस्कृति; जातीय या

राष्ट्रीय नहीं बल्कि शुद्ध और मानव संस्कृति ।

क्या हम आशा करें कि यह सम्मेलन भारत की प्रतिभा और निजता को इस प्रकार एकत्रित और संगठित करेगा कि भारत की ओर का देय जगत् की व्यवस्था और जगत् के हित मे युक्त हो सके ।

पत्थर की लकीर

कल एक सन्त की वाणी पढ़ने को मिली, जो बहुत अच्छी लगी। कहा गया था कि जैसे घर मे रक्खी शीशियाँ उस घर वाले के रोगी होने की सूचना देती हैं, वैसे ही आदमी के पास की किताबें उसके बुद्धि-विकार को बतलाती है। जो बुद्धिनिष्ठ है उनके पास किताब का काम नहीं।

बात वह मन भाई, लेकिन तनिक ही बाद मालूम हुआ कि मै पढ़ सकता हूँ और अक्षर रूप इस बानी का मेरे घर आना असम्भव नहीं हुआ, इसी कारण एक दूर देश के सन्त की मर्मी उक्ति मुझ तक पहुँच सकी। पढना व्यर्थ है, यह पढ़ कर मालूम हुआ।

सन्त की वाणी तो पत्थर की लकीर है। खिंची कि मिटना मुश्किल है। उसमें हेर-फेर का या अपवाद का अवकाश नहीं है। पढ़ने-लिखने वालों पर उनके प्रवचन मे हार्दिक करुणा थी। जैसे वे संसारी जीव हों और एक वीतरागी पुरुष के लिए दया के पात्र हो। सच तो है, संसार खुला पडा है, फिर भी वह किताब लिए बैठे हैं। शब्दों के अर्थ है तो बाहर सृष्टि मे। पुस्तको में शब्द है, सार नहीं और शब्द अपने आप में निस्सार हैं।

वाणी मे अडिग स्पष्टता थी। अश्व का अर्थ जो कोष मे है, अश्व उससे विशिष्ट है। एक हिनहिनाता हुआ जीवित प्राणी असल सार है।

सब अर्थ उसमें है। अश्व के बारे मे बहुत-कुछ जान लो, लेकिन अगर उस घोडे के साथ व्यवहार करने में वह जानकारी काम नहीं आती, तो वह जानकारी ही नहीं है। वह कोरा तमाशा है।

बात पते की है। सन्त पते की ही बात कहते है। लेकिन मुझे कहना है कि बात भयंकर भी है। और सच पूछो तो किसी को नहीं चाहिए कि वह ऐसा विरागी हो जाय कि संसारी न रहे। लिखने और पढने से बिल्कुल छुटकारा सिद्ध को ही है। राष्ट्र की तो साक्षरता अनिवार्य है।

बारह-खडी मे क्या है? अ आ क ख मे क्या है? अंकों में क्या है? जो है सब प्रेम मे है, यह बात एकदम सही है। लेकिन फिर भी प्रेम की पाठशालाये नहीं खोली जाएँगी। और गाँव-गाँव में प्राथमिक शालाएँ बनानी पडेगी, जिनमे एक भी राष्ट्र का बच्चा अक्षर-ज्ञान सीखने से बच न पाएगा। पढना होगा, पढाना होगा। किताबे लिखनी होंगी, लिखानी होगी। पुस्तकालय खुलेंगे और खोलने होगे।

यह होगा, लेकिन सन्त को वाणी को नही भूलना होगा।

मै सन्त को मनुष्य-जाति के परम पुण्य का फल मानता हूँ। वे वर्तमान की मर्यादाओ से अतीत होते है। आगे तो सभी देखते है; लेकिन रहते अपने समय मे ही हैं। परन्तु सन्त रहते भी अपने समय मे नहीं है। वह अपने समय से आगे रहते है। इससे सन्तों की वाणी मन में धारी जा सकती है, चलन मे चलाई नहीं जा सकती। मन से बाहर आकर उस पर साग्रह आचरण हित के बजाय अनहित कर सकता है।

इससे जगत्-नियम देखने मे आता है कि सन्त मरने के बाद समझा गया है। जीवित काल मे वह अनबूझ रहता है और अकेला रहता है। और यह उचित ही है।

वर्तमान की मर्यादाएँ वर्तमान की शर्त भी है। अतः तात्कालिक मूल्य भी कुछ होते हैं। वे भ्रामक होते हैं, ठीक। वे अन्तिम नहीं होते,

निश्चय। लेकिन उनके इन्कार पर तत्काल नही चल सकता। उनके स्वीकार पर ही तात्कालिक जीवन को बल मिलता है। इससे अगर उन मूल्यो को अपनी पहचान से उतार कर जीवन मे यथाशक्य उनका इन्कार करके चलने का यदि सन्त प्रयासी है तो अनिवार्य है कि वह अपने काल मे बल-संग्रह और लोक-संग्रह न कर पाए।

लेकिन गति तो इन्कार के आधार पर होगी। प्रचलित मूल्यों को ज्यो-का-त्यो स्वीकार करके उनको घेरा मानकर जो बैठता है, उसका कोई भविष्य नही है। उसका बस वर्तमान-ही-वर्तमान है। वह ऐसा सफल व्यक्ति बनता है कि आँख से दूर हुआ नहीं कि स्मृति से मिटा नहीं। उसमे संभावनाएँ नहीं होती। बस स्थूल वर्तमान उसका होता है।

यहाँ मै कहना चाहता हूँ कि वर्तमान से छुट्टी किसी को नहीं मिल सकती। जो कवि होकर निरा सपने का हो जाता है और सपनो के पंखो पर बैठ कर वर्तमान पर आँख मींच लेता है, योग्य है कि वह कवि अन्नाभाव मे भूखा मर जाय। अथवा कि तात्कालिक वर्तमान के स्वामियों की करुणा-भिक्षा पर ही उसका जीवन सम्भव बने।

ऐसा कवि, ऐसा सन्त और ऐसा ज्ञानी महान् है। इतिहास मे उसकी गणना होगी। उससे हम शिक्षा लेंगे। उसकी याद को हम पोसेंगे। आगे जाकर कीर्ति-स्तम्भ उसके बनाएँगे; लेकिन आज हम उसको अपने कान नहीं देंगे। उसकी बात सुनकर अनसुनी कर देना लाज़िमी होगा। क्योंकि दूर के हित मे पास का हित खोना बुद्धिमानी नहीं है।

यह जमीन खतरे की है। पास का हित और दूर का हित क्या ये दो विरोधी हैं?

हाँ, अक्सर विरोध दीखता है। अगर देखने-ही-देखने का सवाल हो तो विरोध है भी।

लेकिन अगर सचमुच हित-साधना का प्रयत्न हो, तो विरोध उड़ जाता है।

चलने वाले के लिए प्रत्येक पग के साथ दूर पास आता जाता है।

वह चलता है और अपने चलने को ही जानता है। चलने में अगला कदम ही उसे काफी है। चलने की निरन्तरता ही बड़ी-से-बड़ी दूरी को पार कर सकती है। जरूरत नहीं कि दूरी को जाना जाय। जरूरत है कि चलते चला जाय।

इस पद्धति से मंजिल दूभर नहीं होती। उसकी स्मृति चिन्ता होकर नहीं व्यापती। और जहाँ है, वहाँ होकर व्यक्ति अस्थिर नहीं बनता। एकदम पास को वह देखता है और छलाँग मारकर उसे लाँघता नहीं। पास को सहर्ष स्वीकार करता हुआ कदम-कदम चलता चला जाता है। इसी में पास पिछड़ जाता है और दूर की मंजिल अपने-आप खिची चली आती है।

इस प्रकार देखा जाय तो नहीं जरूरत है ईश्वर को जानने की, नहीं जरूरत है किसी आदर्श के नक्शे-बन्दी की और नहीं जरूरत है तात्त्विक उपदेशों की। जरूरत है आज और इस क्षण के लिए कदम उठाने की। जरूरत है कर्म की।

पर कर्म सिद्ध-यात्रा का डग है, उसका क्रम है। वह साध्य नहीं है। साध्य पुरुषार्थ तो यात्रा है। आगे-से-आगे और फिर उससे आगे बस चलते जाना जहाँ यात्रा नहीं है, वहाँ कर्म बन्धन है। चलते जाते हुए भला सोचिए कोई चल चुके हुए कदम की याद करता है। यह नहीं कि वह भूलता जाता है, बल्कि जो पग उठता है उसमें हर-एक पिछले पग का परिणाम समाया और साथ रहता है। जो रुकता है, वही मानो अपने कर्म के प्रति अकृतज्ञ होता है। अर्थात् कर्म में आसक्ति कर्म-फल को ह्रास करती है।

इस भाँति जानना आवश्यक नहीं है। पाण्डित्य अनावश्यक है। दार्शनिकता भी अनावश्यक है। यात्री के लिए यात्रा आवश्यक है। और यात्रा में ही जो सहायक नहीं है वह अनावश्यक है। हर याद, हर चिन्ता, हर ज्ञान वहाँ बोझ है।

लेकिन यात्रा के माने ही हैं कि मंजिल अभी पूरी नहीं हुई। यात्री

अभी सिद्ध तो है ही नहीं। इसलिए वह जहाँ है वहाँ के अनुकूल बनता है। परिस्थितियों के साथ वह जड़ित नहीं, पर परिस्थितियो के प्रति उसे द्वेष भी नही। जो अपनी स्थिति से झगडता है, वह अपनी स्थिति को दुस्साध्य और गति को असाध्य बनाता है। कायिक तपश्चरण का अर्थ ऐसा ही झगडा है। यात्री हर स्थिति की आवश्यकता का निर्वाह करता है, पर प्रत्येक स्थिति का उपयोग कर वह उसको छोडता जाता है। बिना उपयोग वह किसी वस्तु और किसी क्षण को नही जाने देता। उसके लिए कुछ वस्तु गलत नहीं और कोई क्षण बुरा नही। क्योंकि वह सब मे से अपना इष्ट लेता है। और इष्ट निकाल अनिष्ट के ऊपर से बढ़ चलता चला जाता है। यात्री को इस तरह व्यावहारिक होना आवश्यक है। नहीं तो तरह-तरह की प्रतिकूलताओं मे वह उलझा रह जायगा। बल्कि अव्यवहारिक होने के कारण वह ऐसी प्रतिकूलताएँ स्वयं स्पष्ट कर लेगा।

आदर्शवादी यदि अव्यावहारिक है तो उसका यही मतलब है। आदर्श को तत्काल के साथ वह जोड नही सका है। उन दोनो मे रगड है। और प्रतीत-सा होता है कि तत्काल उसे जकडे है और तत्काल के साथ युद्ध करके ही मानो आदर्श की ओर बढा जा सकता है।

एक प्रकार वह युद्ध है भी। लेकिन शुद्ध जीवन-विज्ञान वह है जहाँ रगड है नही, इसलिए गति ही है। वहाँ ताप प्रकाश रूप है। मानो शक्ति शक्ति होकर भी वह शान्त है। ताप प्रखर होकर भी शीतल है। अग्नि दाहक नहीं, केवल उज्ज्वल है। शक्ति है एकान्त दुर्दम, पर सर्वथा स्निग्ध।

तो शुद्ध जीवन-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो किताबों से नाराज होने की जरूरत नहीं है। जबकि बेशक किताब छोडने की तैयारी जरूरी है ही। उपयोग होता जायगा और निरुपयोगी छूटती जायगी। जो यात्री है उसके साथ यह अर्जन और विसर्जन का कार्य स्वयमेव होता जायगा। इसीलिए उसे अपनी ओर से कुछ छोडने की आवश्यकता नहीं

है। वस्तु के प्रति निषेध की वृत्ति उसे अप्राप्त है। निषिद्ध है तो उसे यही निषिद्ध है।

गति की मुक्ति के लिए जो नहीं छोड़ा जाता, छोड़ने के लिए छोड़ा जाता है, ऐसा छोड़ना छूटना नही है। यह तो त्याग को ही पकड़ना है। पकड़ने से त्याग भी भोग-रूप हो जाता है। अन्यथा तो बिना पकड़े भोग भी त्याग रूप बनता और मुक्तिसाधक हो जाता है। साग्रह त्याग गर्व को उत्तेजन दे सकता है और इस प्रकार यात्री की यात्रा की गति मन्द करता है। और आगे बढ़ने पर तो वह दम्भ हो जाता है और यात्रा की गति को असम्भव कर देता है। तब प्राणी चलता नहीं, चकराता है।

निष्कर्ष यह कि आदर्श मानकर किसी कर्म की प्रतिष्ठा ठीक नहीं है। कर्म में आदर्श है ही नही। कर्म में उपयोगिता है। कर्म उपयोगी हो, यही उसका आदर्श है।

भावना और प्रेरणा की बात दूसरी है। क्योंकि यात्री के पास एक ही प्रेरणा है, वह प्रेरणा है तीर्थ-प्राप्ति। शेष तो उसके लिए यात्रा ही है। और कर्ममात्र उसके लिए यदि कुछ अर्थ रखता है तो यही कि वह यात्रा के उसे योग्य भर रखने मे उपयोगी हो।

इसलिए जहाँ कर्म का प्रश्न है, वहाँ उपयोगिता की माँग पहले है। जो उपयोगी नहीं, वह कर्म अनिष्ट है।

पुस्तकें लूँ कि पुस्तकें छोड़ूँ ? पढ़ूँ या नहीं पढ़ूँ ? इसके निर्णय के लिए सबसे पहले आवश्यक है कि व्यक्ति ऐसी समझ से छूट जाय कि पढना या न पढ़ना अपने आप मे कोई अच्छा या बुरा काम है। दोनों अच्छे दोनो बुरे। और जहाँ जो उपयोगी है, वहाँ वही अच्छा है। अनुपयोगी होकर वही बुरा है।

आशय है कि प्रत्येक कर्म समाज-हित और लोक-हित की अपेक्षा मे ही उचित-अनुचित ठहराया जा सकता है। उससे अलग करके किसी कर्म मे औचित्य की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

उपदेशक गुरु, सन्त, लेखक, वक्ता आदि की वाणियों में यही बहुत बड़ा खतरा है। जहाँ इनमें से कोई तनिक भी कम प्रेमी हुआ और तनिक भी अधिक ज्ञानी हो गया, जैसा कि लगभग हमेशा ही हो जाता है, वहाँ ही अर्थ का अनर्थ, भाव का वाद और शब्द का विवाद खड़ा हो जाता है। वहाँ सत्याग्रह की जगह कर्माग्रह हो आता है।

पश्चिम के आये हुए सोशलिज्म का सामाजिक दृष्टिकोण इस खतरे के लिये अच्छा बचाव है। व्यक्तिगत आदर्श का वहाँ अवकाश ही नहीं है। व्यक्ति वहाँ समाज का अंग है और जिसमें समाज का मंगल नहीं है वह कर्म व्यक्ति के लिये भी अमंगल है।

यह दृष्टिकोण व्यक्ति के कर्म को एकांगी होने से बचा सकता है। एक बहुत बड़ा योगी या तपस्वी या विद्वान् या दार्शनिक अपने आप में ही होकर व्यर्थ हो जाता है। समाज में होकर उसकी यथार्थता है।

योग, तपस्या, विद्वत्ता, या कि दर्शन इनमें से कोई असामाजिक नहीं है। लेकिन व्यक्ति इनका इस प्रकार भी पीछा कर सकता है कि उनमें से हरेक असामाजिक हो जाय। मैं इससे सहमत हूँ कि ऐसी अवस्था में वह अच्छाई भी बुराई है।

मौत

एक मित्र मौत के बारे मे बात करने लगे। उन्होंने कहा कि हम विज्ञान मे तरक्की करने जा रहे है और अधिक दिन नहीं है हम जान लेंगे कि मौत को कैसे जीता जा सकता है। तब मरना गलत होगा और आदमी अमर होकर जीएगा।

यह उनकी आशा नहीं थी। यह उनका विश्वास था। वह विज्ञान का गम्भीर अध्ययन रखते थे। नई-से-नई खोज का उन्हे पता रहता था। उन्होने पूछा कि मै भी तो ऐसा मानता हूँ न ?

क्या मै वैसा ही मानता हूँ ? मैंने कहा कि मौत के जानने की ज़रूरत मुझे नहीं मालूम होती। वह रहनी चाहिए। उसका रहना लाभकारी होता है। और मेरी किसी तरह समझ मे नही आता कि मौत कैसे मर सकती है ?

उनको मुझ पर आश्चर्य हुआ। उनको नही समझ आया कि क्योंकर मै इसके अन्धकार मे हो सकता हूँ। क्या विज्ञान ने साधन नहीं प्रस्तुत कर दिए है जिनसे हमारी ताक़त कितनी बढ गई है। आए दिन नए आविष्कार होते रहते हैं जो हमारी दृष्टि के विस्तार को बढ़ा रहे है। भोजन का परिमाण कम होता जा रहा है और ऐसी चीजें निकलती जा रही हैं जो सूक्ष्म-मात्रा मे ली जाँय तो मुद्दत तक हमारा बल कायम रख सकती हैं। निश्चित रूप में विज्ञान ने हमारी आयु

विज्ञान के बारे मे मेरा अपरिचय ही इस तरह की हीन धारणा बनाने का कारण होगा, ऐसा उनका अनुमान था।

अनुमान उनका ठीक है। मै विशेष नहीं जानता। लेकिन सविशेष जानकर भी मौत को मेटा जा सकता है, ऐसी प्रतीति मेरे भीतर तनिक भी घर नहीं कर पाती। मै मौत मे अन्त नहीं देखता। और जिस चीज़ का मौत में अन्त है उसको मै किसी भाँति अनन्त नहीं मान सकता।

अगर मिट्टी का घडा कभी न फूट सके तो इससे मिट्टी की उपयोगिता कम होगी। घडा फूट सकता है, फूट जाता है और उसकी मिट्टी मिट्टी मे मिल जाती है, तभी वह घडा सार्वकालिक भाव से उपयोगी समझा जा सकता है। क्योकि उसकी मिट्टी अब भी काम आ रही है। अगर घडा फूट सके ही नहीं तो मिट्टी भी मिट्टी मे नहीं मिल सके। और निश्चित रूप मे घडे के कारण मिट्टी की शक्ति और उपयोगिता कम हो जाय।

आदमी के मरने की सम्भावना है, तभी आदमी की सार्थकता है। वह सम्भावना मिट जाने पर सार्थकता ही नहीं मिट जाती, बल्कि उसके होने की कल्पना ही मिट जाती है।

इससे मै मौत को बेहद ज़रूरी मानता हूँ। मौत जीवन के विजय की घोषणा है, क्योकि वह नए जन्म को सम्भव बनाती है। अगर मौत मिट गई तो जन्म भी मिट गया। जन्म मिट गया तो रह ही क्या गया? और जिसको जन्म चाहिए, मौत की उद्यतता तो उसे चाहिए ही नहीं। अन्यथा वह नए जन्म मे बाधा है।

बिना मरे जन्म से भी कैसे छुटकारा हो? जन्म ही अपूर्णता का लक्षण है। मौत अपूर्ण की अपूर्णता नहीं चाहती। इसलिए स्वयं अपूर्ण को गोद मे लेकर फिर जीवन की सम्पूर्णता की राह पर उसे डाल देती है। मर-मरकर अगर जीने का अवकाश न हो तो सम्पूर्णता की उपलब्धि की आशा एकदम निराशा हो जायगी। मैं तो यह विश्वास

करना चाहता हूँ कि विज्ञान वहाँ तक बढ़ेगा जहाँ वह स्वयं अपने से मुक्त हो जायगा। और व्यक्ति मौत को ही नही जीतेगी, अपने को ही इतना जीत लेगा कि वह जीवन-मुक्त हो जायगा। तब वह अमर नहीं; बल्कि अमरता होगा। जीवन और मौत दोनो ही उसके साथ अभिन्न होगे।

लेकिन हम दूर पहुँच गए। मित्र इतने दूर जा पडना नही चाहते। वह बात तो वहाँ तक रखना चाहते है जहाँ समझ से उसका साथ न टूटे। जहाँ तर्क की एक-एक कडी पहचान में रहे और ऐसा न मालूम हो कि शब्दों द्वारा चलने वाली समझ मानो अपनी परिभाषा खोए दे रही है। और शब्दो के अर्थ की सीमाएँ आपस मे विलीन हुई जा रही है।

मित्र ठीक है। समझ से नाता तोडना आसान नही है। जैसे कि पागल होना आसान नही है। पागलपन समाज से भी अधिक खुद पागल के लिए दुस्सह होता है। इसलिए पागलपन नही चाहिए। सदा समझदारी चाहिए।

समझदारी के लिहाज़ से मौत को समझना चाहिए। मैं पैदा हुआ और थोडी समझ आई कि मैने पता पाया कि आसपास जीव मर रहे है। बिशन की दादी मर गई, रम्मू अहीर की बहू मर गई। और मोटर के नीचे आकर स्कूल जाते वक्त बस्ता हाथ में लिए छुन्नू बाबू मर गए। कह तो दिया मर गए; लेकिन मर कर क्या हो गए, सो कुछ समझ न आया। यह ज़रूर देखा कि उनके कुटुम्बी रो रहे है और सुना कि उन्हीं कुटुम्बियो ने फिर उन मरने वालो को ले जाकर जला दिया या गाड़ दिया।

कुछ और उमर हुई कि वह मर गए जिन्हे हम बाबा कहते थे और जो हमें खूब खिलाया करते थे और लाकर खिलौने दिया करते थे। मैने माँ से पूछा—"अम्माँ, बाबा मर गए है।"

माँ ने कहा—हाँ, बेटा!

"तो मर कर गए कहाँ हैं?"

माँ ने कहा—"रामजी के पास चले गए है।"

लेकिन यह तो मौत के सम्बन्ध मे आज कोई समझदारी की बात नहीं मालूम होती। यद्यपि सच्चा बात यह है कि मौत क उपरान्त की सचाई को इससे अधिक सचाई से कोई भी समझदारी की बात नहीं कह सकते।

जवान होने पर आया कि बाप मर गए, माँ गुजरी। इस वक्त मै अधिक समझदार था। और पिता-माता की क्रिया-कर्म करने के अनन्तर मौत के विचार पर अधिक नही ठहरा। अपने काम-धन्धे मे लग गया। दो बच्चों का पिता पहले ही हो चुका था। बच्चे बड़े होकर बलिष्ठ बनते जा रहे है। मै भी बड़ा होता जा रहा हूँ; लेकिन मेरे लिए बडे होने का मतलब यह है कि मै कमजोर होता जा रहा हूँ। वे जवान होंगे, मै बूढ़ा हूँगा। वे कमाऊ होंगे, मैं असमर्थ हूँगा। वे रंग में होंगे, मै तब मौत की ओर देख रहा हूँगा। वे इधर गृहस्थी से भरे-पूरे होंगे कि उधर मै चलने को उद्यत दीखूँगा। वक्त आयगा कि उन्हे मेरी ज़रूरत न रहेगी और मैं जहाँ से उठ जाऊँगा। यह मेरी मौत होगी।

समझदारी की मौत यही है। जो अपने को अनावश्यक बना लेता है, वह उस समय मरने की भी छुट्टी पा लेता है। हरेक से माँग है कि वह अपनी आवश्यकता पूरी करे। उसके भीतर जो अभिप्राय निहित है, उसे सम्पन्न करे। वह आवश्यकता और अभिप्राय जब चुक जायँगे, तब मौत उसके सहारे के लिए आ जायगी।

यही नाता है। बच्चा जनमता है, पढता है, बढता है। स्नेह के आदान-प्रदान से संतति और परिवार बनाता है और फिर शनैः-शनैः जीर्ण होकर मौत से मिल जाता है। यही क्रम नासमझी का नहीं मालूम होता। जवानो के काम मे बुड्ढे अडचन होने लगते हैं और उनकी अनुपस्थिति जवानो को अधिक नही खलती। अगर बुड्ढे न मरें तो जवानो को इससे बडा संकट दूसरा न मालूम हो। इससे कहना कठिन है कि मौत का औचित्य समझ से बाहर है।

तब मौत से बचने की इच्छा का औचित्य समझ से बाहर जान पड़े तो क्या अचरज। मुझे तो यही मालूम होता है कि वैसी इच्छा के मूल मे कोई सच्ची समझदारी नहीं है।

लेकिन सुनिए, जवान कहता है, 'आपकी उम्र हो गई है बहुत। आप हिरास हो गए है। निराशा आप पर सवार है। जीवन का उत्साह आप मे नहीं है। आप मौत के लिए तैयार हो तो ठीक ही है। लेकिन यह कहने का आपको क्या मिज़ाज है कि मौत जरूरी है? हम मौत को हराकर छोड़ेगे। आज नहीं कल, कल नहीं परसों मौत को मिटना होगा। हम जीवन के प्रतिनिधि है। हम जवान हैं। निराशा हम नहीं जानते। आपकी तरह भाग्य के हाथो नत-मस्तक होकर मौत को ले-लेने वाले हम नहीं हैं। हम भाग्य से भी लड़ सकते हैं। आप क्या जाने कि आप प्रतिक्रिया के शिकार हैं। हम जागरण के दूत हैं। उद्बोधन के मन्त्र-दाता हैं। निराशा की बात आप कहेगे तो हम आपको बोलने नहीं देंगे। जान पडता है, सचमुच ही आप का अन्त निकट आया है।'

मैं उस जवान को क्या कहूँ? क्या यह कहूँ कि जवान मैं भी रहा हूँ! लेकिन जो रहा हूँ उससे उन्हें क्या मतलब? जो अब हूँ, उन्हे ताल्लुक़ उसी से है। तो क्या यह कहूँ कि एक दिन होगा वे भी जवान न रहेंगे? लेकिन उस दिन की सम्भावना उनके मन में आज के दिन नहीं हैं। तो क्या यह उनके और मेरे लिए-प्रसन्नता की बात नहीं है? उस प्रसन्नता पर अनागत वार्धक्य की छाया मै कैसे पडने दूँ?

मैंने कहा कि भाई, मेरी निराशा तुम्हें छूती ही क्यो है? और अगर छूती है तो क्या इसी से साबित नही है कि वह निराशा भी निर्जीव नही है? उसमें आशा का सार है। या नही तो उससे यही प्रमाणित है कि तुम्हारे अन्दर ही निराशा की गुन्जाइश है। क्यो भाई, मौत को स्वीकार करने के बाद क्या आशा तुम्हारे अन्दर टिकाए

नहीं टिकती ? अगर आशा तुम्हारे अन्दर मज़बूत है तो मौत की बात से कैसा डर ? मौत को अपने अन्दर समाकर तो आशा और भी दुर्जय बन जाती है।

लेकिन जवान नही माने। वह जवान जो थे। उन्होने कहा कि वह मौत को नही मानना चाहते। मौत झूँठ है।

मैने बताया कि मौत से न डरकर ही मै मौत को झूँठ सिद्ध कर सकता हूँ। मौखिक इनकार से वह झूँठ नहीं होगी। और फिर हम खुद कौन पूर्ण सत्य हैं। लेकिन अगर मैं और आप सत्य हैं तो मौत इस कारण हमसे बडा सत्य है कि हम मरते हैं। हम खुदी के झूँठ को मिटा कर ही मौत के झूँठ को मिटा सकते है।

लेकिन युवक ने वह बात पूरी नहीं सुनी। कुछ दिनो बाद मुझे उनका एक लेख मिल गया जिसमे मै निराशावादी प्रतिक्रियावादी और भाग्यवादी बना हुआ था।

'प्रतिक्रिया' शब्द तो खैर, मन की प्रतिक्रिया में से बना है। अर्थात् मुख्यता से उसमे अपनी या गिरोह की रुचि-अरुचि प्रगट होती है, उससे अधिक भावार्थ उस शब्द में नहीं होता। लेकिन भाग्य और निराशा और मौत अवश्य मैं पूरे हृदय से स्वीकार करता हूँ। उनके किसी वाद को बेशक नहीं जानता। जैसे कि उजली धूप के वाद को नही जान सकता। धूप उजली होकर दीखती है। यही काफी है। वाद के जरिये कोई उसे तब देखे जब उजलाहट वहाँ न हो। इससे भाग्य, निराशा और मौत किसी वाद के मुहताज नही हैं। उनका वादी मानो उनसे दूर हटना चाहता है। मेरा बस चले तो मै उनसे एक-एक होना चाहूँगा।

मेरी कल्पना है कि मौत के साथ अभिन्न हो जाना उसको जीतना है। किसी भी क्षण मरने के लिए क्यो न तैयार रहूँ ? जीवन से बढकर मौत को मानें ही क्यो ? मौत को पीठ-पीछे क्यों, सामने हथेली पर क्यो न लिए फिरें। जीने के मोह में हर दिन क्यों सौ बार मरें ?

मौत को सामने देखकर क्यों न हर घड़ी जीवन की पूरी ज्योति मे जीएँ। देखता हूँ कि मौत से छिपने के लिए आदमी रोज़ आदमियत की मौत बरदाश्त करता है। जीवन से लोग चिपटते हैं और आत्मा को कुचलने देते हैं। जैसे जीवन आत्म-तेज से कोई भिन्न पदार्थ है। मैं मानता हूँ कि मौत को खुली आँखों और प्रसन्न निमन्त्रण से देखने से जीवन का बल बढ़ता है। वह आशा जो कि निराशा की ओट नहीं लेती, उसको आलिगन मे ले लेती है। वह आशा तेजस्विनी बनती है।

मौत जीवन का अन्त नहीं है। वह जीवन के आरम्भ का प्रारम्भ है। मौत अन्त है तो व्यर्थ का वह अन्त है। जो अनावश्यक हो गया, गति-तेज और हीन-अर्थ हो गया, जिसका रस काम आ चुका है और अब जिसके रेशे सूख गए हैं, जिसका अस्तित्व-मात्र अस्तित्व रहकर जड़ीभूत हो गया है, जिसमे क्रिया नहीं, गति नहीं, स्फूर्ति नहीं; मौत यदि अन्त है तो ऐसे जड बन गए हुए जीव का है और वह अन्त भी इसीलिए है कि उस जड को नया चैतन्य प्रदान करें। एक नया अर्थ और एक नया प्रयोजन। मौत इस तरह जीवन की सहायिका है, वह जीवनेश की दासी है।

मृत्यु-पूजा

प्रश्न—क्या आप अमरता मे विश्वास करते है ?

उत्तर—अमरता, यानी व्यक्ति की अमरता। नहीं, उसमे विश्वास करने की मेरे लिए तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य मर्त्य न हो इससे बडी दुःसम्भावना की मै कल्पना नहीं कर सकता।

प्रश्न—जब आप मृत्यु मे विश्वास करते है तो क्या आप पुनर्जन्म को भी मानते है ?

उत्तर—जन्म और मृत्यु की तो जोडी है। जब तक मरना है तब तक जन्मना है। नव-नव जन्म रुकने वाला नही है। इससे पुनर्जन्म न कहकर उसे सतत और निरन्तर जन्म कहा जाय तो मुझे और भी सन्तोष होगा। सतत मरण और सतत जन्म, जीवन का यही रूप मुझे समझ आता है।

प्रश्न—तो क्या आप योनियों पर भी विश्वास करते हैं ?

उत्तर—तरह-तरह के प्राणी सामने देखता हूँ न। तब उतनी ही योनियाँ मानने से बचने की कहाँ आवश्यकता है ?

प्रश्न—क्या मृत्यु स्थायी रोग है ?

उत्तर—तो जन्म भी रोग है। इस तरह जन्म-मृत्यु की शृङ्खला ही रोग हुई। और यह बात ठीक है भी। जन्म-मृत्यु से हमे निस्तार पाना है। वह स्वयं जन्म और मृत्यु के द्वार मे से होगा। लेकिन तब

व्यक्तित्व से भी छूटना हो जायगा। मुक्त एक भगवान् हैं। यानी, मुक्त होकर हम 'हम' रहने की आवश्यकता में नहीं रहेंगे।

प्रश्न—आपके कहने का तो तात्पर्य यही हुआ न कि मृत्यु और जन्म रोग है, एवं इनका रोगी मुक्ति द्वारा इनसे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है?

उत्तर—नहीं, रोग तो इस तरह व्यक्तित्व ही हुआ। जन्म से व्यक्तित्व शुरू होता है, मृत्यु में एक तरह वह समाप्त होता है। यों देखें तो रोग जन्म ही ठहरता है, बल्कि मृत्यु मे रोग की निवृत्ति और निर्वाण देखा जा सकता है। मृत्यु रोग है इसलिए कि जन्म सदा मृत्यु-पूर्वक होता है। अन्यथा मुझे जन्म से भीति और मृत्यु में प्रीति उपयुक्त दीखती है।

छुटकारे का नाम मुक्ति है। वह स्वयं मुक्ति द्वारा प्राप्त होगी इसका कुछ अर्थ ही नहीं बनता। हाँ, मृत्यु द्वारा वह प्राप्त की जा सकती है। मृत्यु इस रूप मे सदा मित्र है और होनी चाहिए। भगवान् की दया मे ही वह हमें प्राप्त होती है।

प्रश्न—मृत्यु मुक्ति या छुटकारे का कारण होती है यह तो ठीक नहीं, कारण कि आपके अनुसार उसके पश्चात् पुनर्जन्म होता है?

उत्तर—मेरी मृत्यु मे छुटकारा मेरा तो है ही। आगे जन्म की बात, सो भगवान् जाने।

प्रश्न—तो क्या आप यह नही मानते कि मनुष्य मरकर तुरन्त जन्म लेता है?

उत्तर—अपने को अपने मरने तक मै जान सकता हूँ। उससे आगे जानने का काम मेरा नही है। वह तो भगवान् का है। क्या मै अनाधिकार चेष्टा मे पड़ूँ? उससे हाथ कुछ न आयगा। व्यर्थ बरबादी होगी।

प्रश्न—भगवान् तो स्वयं प्राणी को कर्मानुसार ही जन्म एव

मुक्ति प्रदान करते है—क्या आप ऐसा मानते है ?

उत्तर—भगवान् कैसे क्या करते हैं, इस पर रायजनी मैं नहीं कर सकता। नियम उन पर नहीं है। वह स्वयं नियम है। मृत्यु के बाद मुझे जन्म लेना ही होगा, यह शर्त रखकर मैं भगवान् के पास नहीं पहुँच सकता। मरने मे यह तय कहाँ है कि फिर से 'मुझे' जनमाया जायगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि जन्म में मेरी ही इच्छा शेष है जो समझती है कि मरना मरना नहीं है, इत्यादि। मरने मे अपनी कृतार्थता देख सकना मुक्ति की ओर उठना है। मरने के पार भी आकांक्षा रख कर हम मृत्यु मे अपने लिए दुख ही पैदा करते है और कुछ विशेष तो उससे नहीं होता। मृत्यु आये तब मेरी कामना उसमें प्रतिरोध न बने, बल्कि वह तत्सम और तल्लीन हो—मुझे तो यही श्रेयस्कर और सत्य दीखता है। मृत्यु मे भगवन्नाम और भगवत्-स्मरण ही परम श्रेय है। इससे अन्यत्र और अन्यथा कुछ भी नही।

प्रश्न—आप अपने वक्तव्य को और स्पष्ट करें। उसमे पारस्परिक विरोध भी दीखता है और वह अस्पष्ट है।

उत्तर—अस्पष्टता हो सकती है, पर विरोध दीखता हो वहाँ बताओ। यो तो हर जिज्ञासा और हर सत्य को शब्दो के विरोधाभास मे से बढना पडता है। फिर भी विरोध वहाँ होता नही है, आभास ही होता है।

प्रश्न—आप कर्म, पुनर्जन्म एवं योनियों को मानते हैं, किन्तु इसके साथ-ही-साथ भगवान् मे अतिव्याप्ति द्वारा उनका निषेध भी कर देते है ?

उत्तर—भगवान् में सब अस्ति नास्ति है। असल में भगवान् में से होकर ही जो है, है। भगवान् के आगे भी क्या कुछ और मानना शेष रह जायगा ? अच्छा, माना कि कर्म है, जन्म है, योनियाँ हैं, सूरज-चाँद हैं, मैं-तुम हैं, देश-विदेश हैं और दूसरी अनगिन चीज़ें हैं। लेकिन वह सब होना क्या परम सत्ता के आधार से स्वतन्त्र है ?

यदि है, तो हाँ, भगवत्-मान्यता मे उसका प्रतिषेध है। तब वह निषेध ही परम सत्य बनता है।

लेकिन इन शब्दों से तुम्हारे निकट कुछ साफ नहीं होता होगा। यही समझ लेना काफी है, कि वस्तु-विश्वास भगवत्-विश्वास मे कभी आड़े नही आता है। आडे आये, तब वस्तु-प्रतीति को टूट जाना चाहिए।

कर्म-जन्म आदि सम्बन्धी मान्यताओ की स्वतन्त्र स्थिति नही है। उनकी स्थिति वहीं तक है, जहाँ तक मूल श्रद्धा से वे विरोधी नही पड़ते हैं।

प्रश्न—भगवत्-श्रद्धा मे मृत्यु साधक है, क्या ऐसा मानना ठीक है।

उत्तर—होनी तो चाहिए। साधक या बाधक बनाने वाले अन्त मे हम ही हैं। भगवान् की ओर से हमें दोनो तरफ की सुविधा है। फिर भी मृत्यु को सामने लेकर साधारणतया हमें अपना अहंकार व्यर्थ लग आता है। यह तो सामान्य अनुभव की बात है। और यह उपादेय है।

प्रश्न—क्या मृत्यु, और भगवत्-श्रद्धा के मूल में अवस्थित भय मनुष्य-जीवन को नियन्त्रण मे नहीं रखता है। अगर ऐसा है तो हमे कहना चाहिए कि मनुष्य के समस्त कार्य भय से प्रेरित है?

उत्तर—हाँ, भय अनिवार्य है। वह भय सात्विक होकर सहायक होता है। इस तरह वह प्राणो की पूँजी और जीवन की प्रेरणा बन सकता है। वह हमें प्रार्थना का बल देता है। भगवान् का भय जगत् के प्रति हमें निर्भय बनाता है। हमारे अहंकार का हरण करता है और हमको आवश्यक नम्रता देता है। हमारी दृष्टि व भावना को वह विस्तार भी दे सकता है, क्योंकि उन्हे स्वार्थ से सीमित नहीं होने देता। धर्म और श्रद्धा के मूल में निश्चय ही एक भय है और वह विधायक है। केवल जड़ता का नाश ही हो सकता है जो उससे इनकार करे। अन्यथा

वह तो बड़ी कीमती चीज है।

प्रश्न—ऐसा भी देखा गया है कि कभी-कभी यह भय मनुष्य को जड़ भी बना देता है। इस प्रकार वह उससे जीवन को जीवन नहीं रहने देता। क्या ऐसा नहीं होता?

उत्तर—हाँ, ऐसा होता है। लेकिन तब, जब हम उस भय को स्वीकार नही करते बल्कि उससे लड़ना चाहते हैं। उसका सत्कार न कर तिरस्कार करना हमारे लिए अनिष्ट हो, तो इसमे आश्चर्य क्या है।

प्रश्न—मृत्यु के भय की अधिकता भी तो अकर्मण्य व्यक्ति को किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देती है। इससे तो आप सहमत है?

उत्तर—व्यक्ति अकर्मण्य जनमता नहीं है, बाद मे ही बनता है। जिन कारणो से बनता है, उनमे मै इस सात्विक भय को अस्वीकार करने की हठात् चेष्टा भी मानता हूँ। हाँ, बहुत ज्यादा मृत्यु पर ध्यान देना कोई अच्छी बात नहीं है। लेकिन इस अतिरिक्त ध्यान के नीचे भी किंचित् अस्वीकृति की वृत्ति हो सकती है। मृत्यु का एक घटना के रूप मे सहज स्वीकार हमे केवल नम्र और निरहंकारी बनाएगा, निश्चेष्ट नहीं बनाएगा। हममें कौन नही जानता कि सबको एक दिन मरना है। फिर भी इस ज्ञान से निश्चेष्ट तो हम नहीं हो पाते। अकर्मण्यता और कर्म-विमूढता जिसका परिणाम है, उसमे मैं भगवान् का भय नहीं, बल्कि उस भय का अस्वीकार कारण देखता हूँ।

प्रश्न—मृत्यु के भय का अस्वीकार किस प्रकार अकर्मण्यता का कारण हो सकता है?

उत्तर—अकर्मण्यता प्रकृति नहीं है, इसलिए वह विकृति का परिणाम है। प्रकृति सतत परिवर्तनशील है, गतिशील है। रुकना वहाँ है ही नहीं। सतत स्पन्दन और विहरण है। जीवन तो और भी अमोघता से यह है। प्रकृति में जड और जडता के लिए हम अवकाश देख भी लें, जीवन मे उसकी ज़रा गुन्जायश नहीं है। फिर जो अकर्मण्यता आती है सो क्यों? इसका कारण यही हो सकता है कि कुछ

हमको एक दिशा मे खीच रहा होता है, दूसरा उतने ही बल से दूसरी दिशा मे। परिणाम उसका होता है, यथावत् स्थिति। अज्ञात और अनन्त का भय चेतना को एक ओर ठेलता है, तो इधर हम अपनी अहंता मे उसे दूसरी ओर चलाने के आग्रही होते है—फल होता है गतिहीनता। इच्छाओ के द्वन्द्व मे से निष्क्रियता उपजती है। कामना की शान्ति गति की समाप्ति नहीं है। कारण, गति नैसर्गिक है, सहज है, अनिवार्य है। वह होने की परिभाषा है।

प्रश्न—तो आपके कथनानुसार मृत्यु मे अच्छाई अत्यधिक है। फिर प्राणी-मात्र उस अच्छाई से क्यों भय खाते है?

उत्तर—अत्यधिक मे अति शब्द का योग ठीक नही है। सही और उचित मात्रा मे ही वहाँ अच्छाई है, अति मात्रा मे नहीं। मात्रा की अति सदा इस ओर से अर्थात् व्यक्ति की ओर से होती है।

अच्छाई का भय नही होना चाहिए, यही आशय न? तो बालक की माँ का भय क्यो होता है? कारण, अच्छाई के अतिरिक्त भी कुछ है जिसको बालक अपना बैठा है। जबकि माता के पास बालक के लिए हितकामना के सिवाय कुछ भी नही है।

हममे से कौन कह सकता है कि हम अपनी अच्छाई के सिवाय कुछ भी और नहीं चाहते। नाना पदार्थों मे हमे आसक्ति है। ऐसी अवस्था मे उसमे अच्छाई होने पर भी मृत्यु का हमे भय लगता हो तो इसमें अनहोनी बात क्या है।

अब श्रद्धा की ही दृष्टि हो सकती है जो उस भय को कीमती मानकर उस मृत्यु नामक अच्छाई के हाथो अपने को पूरी तरह सौपने को कह दे।

प्रश्न—कुछ दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की राय है कि मृत्यु को जीता जा सकता है। आपके इस पर क्या विचार है?

उत्तर—मेरे मन में वह स्पृहा नहीं है। आदमी अमर हो तो देवता को मर्त्य बनाना होगा। नहीं, वैसा सोचना मेरे लिए आवश्यक

नहीं है।

प्रश्न—क्या मृत्यु को जीतने के विचार मे कोई श्रेय नहीं है?

उत्तर—श्रेय अवश्य हो सकता है। हम उस रास्ते से मृत्यु के साथ समझ का सम्बन्ध बिठा सकते हैं, यानी उसके साथ तर्क संगत विवेक का सम्बन्ध बना सकते हैं। यह भी स्वीकृति की पद्धति है। ऐसे हम जीवन को अधिक पूर्णता के साथ जाने के काबिल हो सकते है और जीवन को, उसके स्वास्थ्य के नियमो को, उसकी मर्यादाओ और आवश्यकताओ को अधिक यथार्थता से समझ सकते है। चिन्तकों एवं वैज्ञानिको का इस दिशा मे प्रयास बिलकुल व्यर्थ और अनिष्ट नहीं है। यह धारणा असत् होने पर भी कि कभी व्यक्ति को मृत्यु अनावश्यक हो जावेगी, उस धारणा के आधार पर किये गये सब आविष्कार या ज्ञान-विज्ञान तिरस्करणीय नहीं ठहरते। हम धरती को ठोस मानकर मकान बनाते और उसमे पीढी-दर-पीढी रह लेते है। यह बात कि धरती असल मे ठोस नही है, क्या मकान बनाने और हमारे उसमें रहने को गलत कर सकती है? जानता हूँ कि वैज्ञानिक लोग इस शरीर की मशीन को इतना दुरुस्त और चुस्त करने की कोशिश मे लगे है कि उसे कभी टूटना न पड़े। आयु बढाने के नियम खोजे जा रहे हैं और शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए कीमती अनुसन्धान हो रहे हैं। वह सब उचित ही है और एक हद तक लाभकारी भी। लेकिन उनको स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मृत्यु को अस्वीकार किया जाय। कम-से-कम मैं अपने लिए उसकी आवश्यकता नही देखता।

मुझे तो यह लगता है कि यह खबर कि "मै कभी मर न पाऊँगा" मेरा आज ही हार्ट फेल कर सकती है। मृत्यु मे निराशा है, लेकिन कोई अपने से निराश हो गया हो तो उसके लिए मृत्यु के सिवाय और आशा कहाँ रह जाती है? आगे पीछे हरेक के लिए अपने से निराश होना ही बदा है। ऐसी अवस्था मे मृत्यु भी न रहे तो आशा का स्थान ही आदमी के लिए समाप्त हो जाता है।

आप सोचिए कि मृत्यु मिट जाय तो शहीद होने की सम्भावना भी मिट जाय न ? किन्तु शहीद ही क्या मानवता की निधि नही है ? वह निधि लुटे यह मैं कभी भी गवारा नहीं कर सकता। जीवनार्पण के लिए एकमात्र वेदी मृत्यु है। जीवनार्पण से बडी स्पृहा, उससे बडी अभिलाषा मनुष्य के पास नही है। वह वेदी ही नष्ट हो कि जिस पर समर्पण का अर्घ्य चढ़े और धन्य हो नहीं, यह नहीं हो सकता।

इसमे आप मृत्यु-पूजा देखें तो देख सकते हैं। जीवन से चिपकने के इतने घिनौने दृश्य रोज देखने पडते हैं कि लगता है कि मृत्यु-पूजा अनुपयुक्त धर्म नहीं है। निश्चय ही उसका अर्थ कभी भी मारना नही, बल्कि सदा मरने के लिए तैयार रहना है।

विविध प्रश्नों का समाधान

प्रश्न—अच्छा क्या और बुरा क्या, इसका निर्णायक कौन है ? व्यक्ति या समाज ? और वह निर्णायक कोई भी हो, उसके अच्छे-बुरे की सीमाएँ (=Limits) कैसे निश्चित करे ?

उत्तर—अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इसका निर्णायक व्यक्ति ही हो सकता है। क्योंकि प्रश्न यह व्यक्ति का है।

समाज मे जब अच्छे-बुरे की शंका गहरी हो जाती है तब उथल-पुथल देखने में आती है, जिसको राजनीतिक क्रान्ति कहा करते हैं। मामूली तौर पर वह शंका समाज-व्यापी नही होती, व्यक्तिगत या कुछ व्यक्तियो के समूह तक परिमित होती है।

समाज के अच्छे-बुरे की निर्धारित मर्यादा तात्कालिक और तद्देशीय आईने के दण्ड-विधान (=Land Code) मे देखी जा सकती है। दण्ड-विधान की धाराएँ उस अच्छे-बुरे की निषेधात्मक सीमा-रेखाएँ है। इसलिए अच्छा क्या और बुरा क्या, यह प्रश्न व्यक्ति ही उठाता है। वह उसमें उसके भीतर से पैदा होता है। अतः स्वयं ही उसे निर्णायक होना पडेगा।

जब यह व्यक्ति का प्रश्न है तो अर्थ हुआ कि मै ही सिर्फ अपने अच्छे-बुरे को जान सकता हूँ और कह सकता हूँ। तुम्हारे अच्छे-बुरे को जानने और कहने का दावा मै नहीं कर सकता।

व्यक्ति अपना निर्णायक है—इसका मतलब ही यह होता है कि मै या और कोई हरेक का निर्णायक न बने।

लेकिन इसके आगे एक बात न भूली जाय। वह यह कि यदि व्यक्ति अकेला हो तो उसमें कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। प्रश्न सम्भव ही तभी है जब वह निरा एक नहीं है, कइयों के बीच मे एक है, यानी जन-समाज मे है।

इसलिए व्यक्ति के अपने प्रश्न, उसके सब प्रश्न, समाज की अपेक्षा सुलझेंगे और खुलेंगे। समाज कसौटी है जिस पर व्यक्ति के सब समाधानों की परख होगी।

इस भाँति तुमने देखा न, कि "अच्छा क्या और बुरा क्या" यह प्रश्न मुझ से टल गया है। टलकर वह सब के अपने-अपने पास पहुँच गया है।

अब उसकी लिमिट। स्पष्ट है कि उसकी लिमिट अब भी खिंची-खिचाई है। उसे खोजने कही भी जाना नही है। वह लिमिट हमारा पिनल-कोड "दण्ड-विधान" है।

हम हत्या करेंगे तो जेल पाएँगे। चोरी करेंगे तो जेल तैयार है। इस मामले मे प्रश्न यह होता ही नहीं कि किन भावनाओं से हम यह काम करते है। वे काम ही हमारे अच्छे-बुरे की हद पर बैठे लाल-लाल सिग्नल है।

लेकिन मेरे अपने लिए तो भावना का ही पहला और आखिरी प्रश्न है। अर्थात्, व्यक्ति का दृष्टिकोण आवश्यक रूप मे इससे भिन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से व्यक्ति-कर्त्तव्य और समाज की पुण्य-परिभाषा मे संघर्ष और कभी विरोध भी हो जाता है।

इस संघर्ष की चरमावस्था का दृष्टान्त है—शहीद। शहीद अनिवार्य्यतया पवित्र व्यक्ति होता है। लेकिन तात्कालिक समाज की दृष्टि से वह असामाजिक व्यक्ति भी होता है। समाज उसे दण्ड देकर उससे

छुटकारा पाता है। पर हठात् वही व्यक्ति लोगों के जी मे बस जाता है और अवतार तक माना जा सकता है।

पर वे लिमिट्स या सीमाएँ अन्तिम नहीं है। अवतार और शहीद अपने जीवन द्वारा ज्वलन्त रूप में इसी को प्रमाणित करने आते हैं, और उन सीमाओं को और भी आगे किस दिशा में बढना चाहिए, यह दिखाकर चले जाते है।

प्रश्न—सुख-दुख क्या है? क्या सिर्फ कल्पना, यानी अपनी मानी हुई चीज? या इससे अधिक भी वे कुछ है? नापसन्द को आदमी पसन्द मे किस प्रकार परिवर्तित करे? पाया गया है कि हरेक श्रेय प्रेय नहीं होता। इसी से इस तरह के श्रेय को पसन्द "प्रेय" बनाना क्या जरूरी है?

उत्तर—सुख-दुख को सिर्फ कल्पना नहीं कहा जा सकता। कल्पनाएँ जहाँ से उपजती-उगती हैं, सुख-दुख उन जडों को ही भिगो देते हैं। सिर्फ कल्पनाओं के बल पर सुख या दुख से बचना नही होता। और उनसे बचना सिद्धि भी तो नही है। असल सिद्धि तो उन पर काबू पाना है, उन्हे पचा जाना है।

इसलिए मै तुम्हे कहूँ कि सुख-दुख से सच्ची छुट्टी तो कविता लिखकर, चित्र खींचकर या कुछ गाकर भी नहीं मिलती। थोडे बहुत अंशो मे ये सब कला-व्यापार उनसे बचने की प्रक्रियाएँ हैं, उन पर काबू पाने के सच्चे उपाय नही हैं।

हरेक श्रेय प्रेय तो है ही, फिर भी यदि प्रेय नहीं मालूम होता तो समझना चाहिए कि हमारी प्रीति हमारे बस मे नही है। कला की यही राह है। वह प्रेय की राह से श्रेय को अपनाती है। मै तो मानता हूँ कि श्रेय को प्रेय रूप मे भी पाना जरूरी है। ऐसा नहीं होगा तो हमे नीरस कायिक तपस्या के सिद्धान्त तक पहुँचना पडेगा। और वह सिद्धान्त तो मुक्ति-कारक नही ही है, प्रत्युत अनर्थकारक हो सकता है।

प्रश्न मे यह भी है कि नापसन्द को पसन्द मे किस तरह परिवर्तित

करें। किन्तु यह तो प्रश्न मे ही गर्भित है कि वह नापसन्द नही है। नहीं तो उसे पसन्द मे परिवर्तित करने का सवाल ही कहाँ से उठता? इसलिए मै कह सकता हूँ कि इस भाँति जो आंशिक रूप मे नापसन्द है, वह इस योग्य ही नहीं है कि उसे नापसन्द किया भी जाय। अर्थात् हम उसको समझेंगे तो नापसन्द करना छोड देंगे।

लेकिन प्रश्न मे ध्वनि ऐसी मिलती है कि साहब, नीम के पत्ते हमारे लिए बडे हितकारी है, पर लगते कडुए है। इच्छा तो हमारी है कि वे पसन्द आने लगें, पर मुँह मे चलते ही नहीं, बेहद बुरे मालूम होते है। अब बताइए, क्या करें?

इसके जवाब मे मैं कहूँगा कि उनके स्वाद में बुरे लगने की परवाह न करो। बहुत कडुवा मुँह हो जाय, तो पीछे से मिसरी खा लेना। अगर तुम्हारे मन मे पक्का हो गया है कि नीम के पत्ते तुम्हें फायदा ही करेंगे, तो उन्हे छोडने की बात मुझ से आप सुनोगे भी नहीं। तब यह भी निश्चय है कि एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि उनकी कडुवाहट तुम्हे बिलकुल नही सताएगी। अर्थात् श्रेय, यदि पूरे मन से उसमे श्रेयता दीखती है, तो एक दिन प्रेय होकर ही रहेगा। इस प्रतीति मे बीच की बाधाओं को धैर्य के साथ लाँघते चलना होगा।

प्रश्न—देश और काल के अनुबन्ध ही क्या संस्कृति कहलाते है? क्या आदमी इससे उबर सकता है? इससे ऊपर भी क्या उसकी सत्ता है? है तो वह कहाँ है?

उत्तर—यहाँ अनुबन्ध शब्द के भाव को मैं ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सका। देश और काल मे व्यक्ति अवश्य है, लेकिन यह समझना भूल है कि वह उनसे परिबद्ध है। चित्र चौखटे मे जड़ा होता है, लेकिन वह क्या चौखटे से घिरा हुआ है? क्या वह वहां बन्द है? ऐसा कहना तो चित्र की सच्चाई का अपमान करना है और चौखटे की लकडी को सबकुछ मान लेना है। चित्र के लिए चौखटा है, उसके बीच मे यदि चित्र न हो, तो चौखटा चूल्हे के काम भी आ सकता है और यह तो स्पष्ट है

ही कि चौखटे के बिना भी चित्र का जीवन खतरे से खाली नहीं हैं।

आशय यह कि मिनट-मिनट द्वारा बीतने वाला काल और इंच-इंच द्वारा नपने वाला देश हमारी चेतना और स्थिति की परिभाषा हैं, परिमाण नही। यों तो दरअसल हम शाश्वत मे ही साँस लेते है और समग्र का ही स्पर्श पाते हैं।

आदमी देश और काल मे जीता है—इसका असली अर्थ यह है कि वह देश और काल द्वारा अपने अन्तस्थ आनन्द का उपभोग करता हुआ उत्तरोत्तर शाश्वत की ओर बढता है।

प्रश्न—(Behaviour) व्यवहार या आचरण से आदमी के निर्णय करने का जो तरीका मनोविज्ञानकों ने खोजा है, वह क्या (Hasty) जल्दबाजी का नहीं है ? एक ओर से यों भी कहा जा सकता है कि आदमी सिर्फ बिहेविअर ही तो पकड़ पाता है और वह क्या जाने ? क्या यह बात मानी जाय ?

उत्तर—बिहेविअर से निर्णय करने के मनोविज्ञान-शास्त्रियों के तरीके को जल्दबाजी का तो मैं नहीं कहूँगा। शायद वह धीमा है। बेशक वह अपूर्ण है। लेकिन तरीके के दृष्टि-कोण से दूसरा और तरीका शास्त्रीय ढंग से सम्भव भी कहाँ हो सकता है ? सब तरीकों को (आब्जेक्टिव) पर निष्ठ दृष्टि-कोण से चलना होगा। ऐसे न चलेंगे तो System तरीका भी वे न बन पाएँगे। जिसको प्रतिभा कहा जाता है, उसी को सर्व-सुलभ शास्त्र का रूप देना है कि नहीं ? इसी पद्धति में अनुभूतिमय ज्ञान को पदार्थ-मय विज्ञान बनना पडता है। इसमें वस्तु की वास्तव सच्चाई कुछ कम अवश्य होती है, लेकिन उपाय भी और कुछ नही है। बिहेविअर की राह से पकड़ते-पकडते भी आदमी को नही पकड़ा जा सकेगा—यही तुम कहते हो न ? मै मान लेता हूँ। लेकिन, ऐसा, कौन-सा उपाय है जिससे भीतर का असली आदमी पूरी तरह पकडा जा सके ? मैं मानता हूँ वैसा कोई शास्त्रीय उपाय न है, न था, न होगा।

हाँ एक अमोघ उपाय है और वह सर्व-सुलभ है। उसका नाम है, प्रेम। लेकिन प्रेम शास्त्रीय कहाँ है ?

अत. वैज्ञानिक तरीकों की अपूर्णता के जानकार को भी उन तरीकों के प्रयोग और उपयोग से अपने को वंचित नही करना चाहिए।

प्रश्न—क्या प्रेम घृणा के बिना सम्पूर्ण नहीं है ? हरेक प्रेम के साथ जो घृणा लगी रहती है वह क्या अवश्यम्भावी है ? मानवी प्रेम की चरम सीमा क्या होगी ? तब क्या वह और दैहिक वृत्तियों से छूट सकेगा ?

उत्तर—मानव-प्रेम के साथ जो घृणा चलती है वह एक प्रकार से वृत्त को पूरा करने के लिए है। बिना (Circuit) वृत्त पूरा हुए बिजली कहाँ चलती है। हाँ, व्यक्ति को साधारणतया जो प्रेम प्राप्त है। उसके साथ अप्रेम अवश्यम्भावी है। इस बात को हम अपने सामाजिक नातों मे अत्यन्त स्पष्टता से चीन्ह सकते हैं। मेरा पुत्र कहकर मै आवश्यक रूप में शेष और पुत्रों को अनजाने भी अपने से पराया बना देता हूँ। अपने पुत्र के प्रति राग की अतिशयता शेष पुत्रों के प्रति द्वेष रूप हो जाती है। राग-द्वेष अभिन्न जोड़ी है—जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है। इसलिए वह प्रेम, जिसे भरने के लिए घृणा आवश्यक है, कहना होता है कि शुद्ध प्रेम नहीं है। शुद्ध प्रेम वह है जिसे अपने से अतिरिक्त किसी और अवलम्बन की आवश्यकता न हो। किन्तु मानव-प्रेम शत-प्रतिशत वैसा शुद्ध हो नहीं सकता। वैसा शुद्ध प्रेम सत्य की भाँति आदर्श है, अतः अप्राप्य है, किन्तु आदर्श है, इसलिए हमे उसी को सामने रखना है। जिसमें मोह जितना ही कम है, घृणा-वासना जितनी ही कम है, वह उतना ही श्रेष्ठतर प्रेम है। श्रेष्ठतर कहने मे यह आ ही जाता है कि वह अधिक व्यापक है।

संकीर्ण संकुचित प्रेम एक हद से नीचे जाकर पाशविक और घृण्य हो जाता है। वही उत्तरोत्तर व्यापक होकर दैवी कहलाता है।

प्रेम की चरम सीमा वहाँ है जहाँ व्यक्ति तन्मय हो जाता है।

ऐसी अवस्था मे व्यक्ति प्रेम करता नही है, स्वयं प्रेम होता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य प्रेम नहीं होता, प्रेम मे मनुष्य होता है। निस्सन्देह तब वह प्रेम और दैहिक वृत्तियो से छूट जाता है। दैहिक वृत्तियाँ प्रेम को स्थूल रूप देकर एक प्रकार से परिमाण मे बाँधती हैं। पर प्रेम वास्तव में मुक्त है, निर्बन्ध है।

स्पष्ट है कि ऐसा प्रेम दो मानवो के बीच का पारस्परिक प्रेम नही हो सकता ? यह तो ब्रह्म-प्रेम सत्य-प्रेम ही हो सकता है।

प्रश्न—शान्ति-प्रस्थापन (व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी मे) कैसे सम्भव है। क्या कलह-वृत्ति का नाश भी मानव मे से कभी हो सकता है ? यदि नहीं, तो क्यो न कहा जाय कि शान्ति-प्रस्थापन की सब बाते बाते है, व्यर्थ है, लभ्य इनसे कुछ न होगा ?

उत्तर—पहली बात तो यह कि मै मानता हूं, शान्ति-प्रस्थापन सम्भव है। सम्भव ही नहीं, अनिवार्य है। उसको लक्ष्य की भाँति आगे रखकर ही जीने मे कुछ अर्थ है, नही तो जीवन व्यर्थ है।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे सम्भव है, यह प्रश्न बहुत बडा है। अगर आज ही यह सुलझ जाय तो मैं या आप ज़िन्दगी के बाकी दिन किस बात को लेकर गुज़ारे ? इसलिए इस प्रश्न को तो फार्मूले से नही, जीवन के ज़ोर से सुलझाना होगा।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे सम्भव है, इसके लिए एक गुरु-मन्त्र हाथ लगा है। वह मन्त्र यह है कि शान्ति की प्रस्थापना मे अपने भीतर से आरम्भ कर दूँ। (Let every one begin with himself) अपनी वृत्तियों मे सामन्जस्य, ऐक्य का प्रस्थापन मैं कर सकता हूँ और मुझे करना चाहिए। समाज, राष्ट्र और विश्व सभी के शान्ति-प्रस्थापन मे एक का यही सबसे बड़ा योग-दान हो सकता है।

कलह-वृत्ति का नाश मानव मे से सम्पूर्णतया हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। यह विश्वास का ही प्रश्न है। मानव को पशु-तुल्य देखकर भी यह विश्वास अडिग बना हुआ है। क्योकि मानव पशु-

तुल्य ही हो सकता है, पशु नहीं हो सकता। इस पशु-तुल्य और पशुता के बीच के बाल-बराबर अन्तर मे ही मेरा वह विश्वास जड बाँधे बैठा है।

जब मैं कलह-वृत्ति का समूल नाश सम्भव मानता हूँ तब हाँ, एक चीज़ का नाश नहीं है। वह चीज़ है युद्ध। युद्ध को असम्भव बना दें, तो जीवन भी असम्भव ठहरता है। हम साँस लेते हैं, तो इसमें भी संघर्ष, इसमें भी हिंसा है। लेकिन इससे पहली बात खण्डित नहीं होती। वह इसलिए कि जीवन अलबत्ता युद्ध-क्षेत्र है। लेकिन समूचे युद्ध-क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र बनाया जा सकता है। मनुष्य का त्राण इसी में है। अर्थात् युद्ध किया जाय किन्तु धर्म-भाव से।

कर्म के क्षेत्र मे कलह-हीन वृत्ति असम्भव नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ और चूँकि ऐसा मै मानता हूँ इससे शान्ति-प्रस्थापन के सतत् प्रयत्नों की अचूक निष्फलता से भी मुझे निराश नहीं हो जाना होगा।

प्रश्न—यह तो माना कि काम और अर्थ (Sex and money.) को आज के ज़माने ने जरूरत से ज्यादा महत्व दिया है, पर क्या आप कोई व्यावहारिक (Practical) तरीके सुझा सकते है जिनसे उनका महत्व घट सके?

उत्तर—जिसको पूरे अर्थों में व्यावहारिक (Practical) कहे शायद ऐसा कोई तरीका इस वक्त मैं नहीं सुझा सकता। प्रैक्टिकल शब्द में ध्वनि आती है कि उपाय संगठित हो, सांघिक हो। उस प्रकार के संघ या संगठन की योजना पेश करने के लिए मेरे पास नहीं है। इस प्रकार का संकल्प (=Will) उत्पन्न हो जाय तो उस आधार पर संगठन भी अवश्य हो चलेगा। मेरा काम इस संकल्प को जगाने मे सहायक होने का ही है। संकल्प जगा कि मार्ग भी मिला रक्खा है। The will shall have its way.

जैसा पहले कहा, यहाँ भी अमोघ उपाय यह है कि व्यक्तिअपने से आरम्भ करे। मैं मानता हूँ कि अब भी मानवीय व्यापारों को हम मूलतः

देखें तो उनका आधार काम और अर्थ में नहीं, किसी और ही अन्तस्थ वृत्ति में मिलेगा। उदाहरणार्थ परिवार को ही देखिए। परिवार समाज की इकाई है, शासन-विधान (=State) की मूल-पीठिका है। परिवार में सब लोग क्या काम और अर्थ के प्रयोजन को लेकर परस्पर इकट्ठे मिले रहते हैं? माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहिन आदि नातों के बीच में इस कामार्थ रूप प्रयोजन को मुख्य वस्तु मानना परिवार की पवित्रता को खींचकर नरक में ला पटकने के समान होगा। मैं कहता हूँ कि वह कामार्थी प्रयोजन का नाता दो को एक नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक वह दो को समझौते के भाव से कुछ समय तक पास-पास रख सकता है। किन्तु आपस मे ऐक्य साधे बिना जगत् का त्राण नहीं। इससे कामार्थमयी इच्छाओं से ऊँचा उठे बिना काम न चलेगा।

अतः उपाय यह बना कि हम व्यक्तिशः अपने वैयक्तिक जीवन में इस प्रकार की संकीर्ण वृत्तियों को लेकर आगे न बढे। इन वृत्तियों का सहसा लोप तो न होगा, लेकिन इतना हो सकता है कि उन वृत्तियों को लेकर हम सार्वजनिक विक्षोभ पैदा न करें। अर्थात्, जब हम क्रोध लोभ के वशीभूत हों, तो मानो अपने भीतर सकुचकर अपने कमरे में अपने को मूँद लें। अपने से बाहर जब हम आवें तब प्रेम-पूर्वक ही वर्तन करें।

दूसरे शब्दों मे इसका यह अर्थ होता है कि यों तो हम पूरी तरह निःस्वार्थ नहीं हो सकते, पर स्वार्थ को लेकर हम सीमित रहें और सेवा-भावना को लेकर समाज में और सार्वजनिक जीवन में आवें। परिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, ये तीन व्रत हमें इस सिद्धान्त-रक्षा में मदद देंगे।

प्रश्न—परमात्मा क्या है? क्या वह निरी कल्पना का, बुद्धि का, हृदय का स्वनिर्मित विकार नहीं है? भय की भावनाओं पर समस्त धर्मों का प्रारम्भ हुआ, यह बात यदि सच है तो अब

सुबुद्ध मानव को पुनः उसी भयार्त आदिम ज्ञान-हीन जन्तु की ओर मुड़ने और वैसे ही बनने का ही क्या यह परमात्मा-पूजा-भाव नहीं है ?

उत्तर—परमात्मा क्या है, यह पूछते हो ? तो सुनो—जो है, परमात्मा है। मैं हूँ ? तुम हो ? तो हम दोनो जिसमे हैं वह परमात्मा है। हम दोनो जिसमे होकर दो नहीं हैं, एक है, वह परमात्मा है ।

नहीं, परमात्मा विकार नही है। उसको छोड़ने से, हाँ, शेष सब-कुछ विकार हो जाता है ।

विकार इसलिए भी नही है कि हमारी सारी कल्पना, हमारी सारी बुद्धि, हमारे सारे हृदय की शक्ति द्वारा भी वह निमित नही हुआ। हम उसका निर्माण नहीं कर सकते। कल्पना, बुद्धि, हृदय द्वारा हम उसको ग्रहण ही कर सकते है। उसकी प्रतीति को हम बनाते नहीं हैं, वह प्रतीति तो हमारे मन-बुद्धि पर हठात् छा जाती है।

जो हमारे द्वारा निर्मित है वह बेशक हमसे दूसरे के लिए और हमारे काल से दूसरे काल के लिए विकार हो जाता है।

लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्यों अथवा जातियों द्वारा उनकी पूजा-भक्ति अथवा, भय-विश्वास के संस्कारों द्वारा, जो रूप-गुणात्मक मूर्ति तैयार होती है, वह देवी-देवताओं की मूर्ति होती है। वे देवी-देवता बनते है इसलिए बिगडते भी है। परमात्मा इन सब मे होकर ही इन सब से अतीति है।

परमात्मा वह महातत्त्व है जिसमे सब एक है। उसमे, उसके द्वारा, उसी के हेतु से हम अपने देवी-देवताओ अथवा मत-मतान्तरो का निर्माण करते है।

हमारी ऐसी निर्मित मूर्तियो मे, मत-धारणाओं मे जब तक और जहाँ तक परमात्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा है, वही तक वे सत्त्व हैं, अन्यथा वे निस्सत्त्व पाखण्ड हो जाती हैं।

भय की भावनाओ पर धर्मों का प्रारम्भ हुआ, यह बात झूँठ

नहीं है।

लेकिन इसका मतलब यह क्यो न समझो कि भय की भावनाओं को लेकर ही निर्भयता सम्पादन करने का संकल्प आदिम मनुष्यों में जागा?

भय उनके मूल मे हो लेकिन निर्भयता की वृत्ति उन धर्मों के कलेवर को थामे हुए है। उनकी सहायता से यदि मनुष्य निर्भीकता की ओर, ज्योति की ओर, कर्मण्यता की ओर बढ़े तो क्या उपादेय नहीं है?

उस प्रकार के भय को मै जीवन के लिए अत्यन्त मंगलमय तत्त्व मानता हूँ। सच्चा ज्ञान उस भय के मूलाधारो को और गहरा ही ले जाता है, उसे मेट नहीं सकता। जो मानव व्यक्ति के चित्त मे की इस बहुमूल्य ईश-कातरता पर धूल डालने की कोशिश करता है, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, वह नशा है, वह अहंकार है। अपने भीतर के छद्म-ज्ञान का वह गर्व है।

ज्ञान-हीन और बनने या बनाने की प्रक्रिया मे ही परमात्म पूजा-भाव आता है, यह समझना भारी भूल है।

जब तक बुद्धि है तब तक व्यष्टि में समष्टि के प्रति, Microcosm (=अणु) मे Macrocosm (=अखिल) के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण, एक तनाव, एक असह्य विछोह का चाव वर्त्तमान ही रहेगा।

वह विज्ञान बेचारा है जो इस एक परम सत्य-भाव को स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान वही असली है जो इस परम गम्भीर अनुभूति को और गहरा ले जाता है। महान् वैज्ञानिकों को देखो, यही प्रमाणित पाओगे।

जब मानव अनन्त विश्व के समक्ष आमने-सामने होता है तब उसमें जो उदय होता है—उस भाव को क्या कहोगे? विश्व के प्रति व्यक्ति की इस दुरधिगम्य भावना को क्या कहोगे?

मैं इसको धर्म कहता हूँ।

उस धर्म-भावना का खिंचाव जिसकी ओर है, उसको मैं परमात्मा कहता हूँ। उसमें भय आता है अवश्य, लेकिन उस भय को मैं शुभ कहता हूँ।

प्रश्न—आत्म-हत्या में बुराई ही क्या है? जब मैं सोचता हूँ कि मेरे जीने से न मेरा ही भला है न औरों का ही हो सकता है, तब गांधीजी के बछड़े मार देने के समान, मैं अपने देह को खत्म कर डालूँ तो इसमें हिंसा का पाप तो है ही नहीं उलटे सिद्धि ही अधिक है।

उत्तर—प्रश्न की भाषा से प्रगट होता है कि आप विश्वस्त हैं कि "इसमे हिंसा का पाप तो है ही नहीं, उल्टे सिद्धि ही अधिक है।"

मैं अपनी ओर से विश्वस्त हूँ कि उससे सिद्धि तो है ही नहीं, उलटे हिंसा का पाप अवश्य है।

यह इसलिए कि ऐसे सुविचारित आत्म-घात में यह गर्भित है कि कि अपना मालिक मै हूँ। जीऊँ चाहे मरूँ मै अपने को मार भी सकता हूँ।

पर यह गलत है। अपना सिरजनहार मै नहीं हूँ। इसलिए अपने मारने का दम भी मैं नहीं भर सकता।

"मेरे जीने से न मेरा ही भला है और न औरों का ही हो सकता है" यह सोचने वाला व्यक्ति अपने को निराशा के नशे की चुस्की दे रहा होता है। यह विचार एक प्रकार का विष-सेवन है, विषय-सेवन भी है। निराशा का जन्म प्रछन्न अहंकार में से होता है। "मै जगत् का उपकार कर रहा हूँ," यह सोचना जितना गलत है उतना ही गलत ऊपर के प्रकार का विचार भी है। दोनो के भीतर प्रमाद है, अहं-भाव है।

गांधीजी के बछड़े मारने की बात तो गांधीजी की है। पूरा समाधान तो इसका वही करेंगे और उन्होने किया भी है। लेकिन उन्होने बछड़े को इसलिए नहीं मारा कि उसका किसी प्रकार भी उपयोगी होना असम्भव हो गया था। बछड़े को मारने का समर्थन उन्हे अपने भीतर

से इस विचार में से मिला कि मरना तो उसका अवश्यम्भावी है। वह अब मरा, अब मरा तो हो रहा है, स्वयं मारकर उसे एक अपार कष्ट से मुक्ति अवश्य दी जा सकती है। अर्थात् गांधीजी का हेतु उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार न था वरन् उसका वास्तव हेतु प्रेम-भाव ही था।

जहाँ प्रमाद है, अहंकार है, वहाँ पाप है। अपघात में, विशेषकर प्रस्तुत प्रश्न मे दिखाए गये उदाहरण में, विचार का प्रमाद दीखता है। इसलिए उसमें हिंसा है, ऐसा मैं मानता हूँ।

सिद्धि की बात मेरी समझ में नहीं आती। इस अनादि काल से चले आते हुए अनन्त विश्व मे एक व्यक्ति कितनी घड़ी पहले मर गया—यह अपने-आप में उस विश्व के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्न मुझे बिलकुल नहीं मालूम होता। इस भाँति अपने को अनुपयोगी समझने वाला एक व्यक्ति अपने को मार कर सृष्टि मे सचमुच किसी उपयोगी की, किसी लाभ की सिद्धि दे जाता है, ऐसा मैं नहीं सोच सकता। दर-असल उस निगाह से प्रश्न पर विचार करना मेरे लिए अशक्य है।

सत्य

प्रश्न—सत्य क्या है और उसका धर्म क्या ?

उत्तर—सत्य सत् का भाव है। अर्थात् वह स्वयं में धर्म है। या यों कहा जा सकता है कि जो है, जो भी सत् है, उसका धर्म सत्य है।

इस भाँति सत्य का धर्म क्या है, यह पद निरर्थक बनता है।

पर शायद प्रश्न का आशय हो कि उस सत्य का स्वरूप क्या है, है, स्थिति क्या है, कार्य क्या है ?

तो इस अर्थ में मैं कहूँगा कि सत्य सच्चिदानन्द स्वरूप है,। वह (=सत्) है, वह जीता (=चित्) है, वह लीलामय अर्थात् गति-

परिवर्तनमय (=आनन्द) है।

ऐसा जो सत्य उसे इश्वर भी कहो।

प्रश्न—सत्य का व्यक्त रूप (=Manifestation) ही संसार है किन्तु सत्य स्वयं मे पूर्ण और निरपेक्ष है और संसार ऐसा नहीं है। यह कैसे ?

उत्तर—सत्य सम्पूर्ण है। हमारा ज्ञात और ज्ञेय और अज्ञात और अज्ञेय सब उसमे समा रहा है।

जो उसका ज्ञात और ज्ञेय रूप है, संसार हम उतने ही को कहते हैं। व अपूर्ण है, क्योंकि उसमे अज्ञात समा नहीं सकता।

अज्ञेय और ज्ञात मे कोई विरोध नहीं है। दोनों एक है। अज्ञेय यदि पीछे नहीं है, तो ज्ञात झूठा हो जाता है और अगर ज्ञात होकर कोई भी उसका पक्ष सामने नहीं है तो ऐसा अज्ञेय भी निरर्थक हो जाता है।

एक समूचे सत्य-तत्त्व का ज्ञात किनारा संसार है। अपूर्ण तो वह नहीं है, क्योंकि जिसको वह सूचित कर रहा है वह सम्पूर्ण है। वह तो एक सामना (=Fornt) भर है। पर उस सम्मुख पर ही ध्यान रक्खें तो उसे अपूर्ण हो जाना ही चाहिए। ऐसे वह संसार अपूर्ण है ही। एक प्रकार से यह अपूर्णता उसकी विशेषता है और सत्य की सम्पूर्णता मे वह बाधा तो किसी प्रकार है ही नहीं। वह तो बल्कि उसी सम्पूर्णता को और भी सिद्धि और अनिवार्य बनाती है।

प्रश्न—आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए ?

उत्तर—आत्मा अपने स्वभाव मे परमात्मा का तादात्म्य अनुभव करे, यही उसका इष्ट है। इसके अतिरिक्त किन्हीं और शब्दों में इस स्थान पर उस आत्म-धर्म को कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभूति, आत्मा के तीन कार्य हैं। क्या विशुद्ध सत्य की अवस्था मे भी तीनों कार्य मौजूद रहते

है ? यदि नहीं तो उनका विकास कैसे होता है और सृष्टि के विकास के साथ उनका क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—व्यक्ति मे आपके कहे मुताबिक जो त्रिविधिता है, वह ऊपर जाकर नही रहती। संकल्प, चिन्तन और अनुभूति ये क्रियाएँ सत्य मे असम्भव हैं।

मानव मे इसीलिए सम्भव है और उपयोगी हैं कि उसमे अभी सत्य से अन्तर है।

कैसे इन शक्तियों का विकास हुआ, इसका मूल हेतु तो यह है कि व्यष्टि को समष्टि के साथ एकाकारता खोजनी है। उसी विस्तार के आयास ये शक्तियाँ और क्रियाएँ व्यक्ति मे प्रादुर्भूत होती हैं।

सृष्टि के विकास के साथ उनका बहुत घना सम्बन्ध है और वह इसलिए कि असल में सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के मानव बनाने मे फलित होता है। जैसे अच्छा फल अच्छे वृक्ष की सफलता है, वैसे ही विस्तृत चेतना-प्राप्त मानव उत्पन्न करना सृष्टि की सफलता है। ये तीनों क्रियाएँ उसके उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करती हैं।

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभूति के उत्तरोत्तर विकास में क्या कोई क्रम है।

उत्तर—विकास मे जो क्रम मै देख पाता हूँ उसमें, ये शब्द तीन होकर कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचाते। असल में हिन्दी मे इन तीन शब्दों का कोई मान अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं है। आम भाषा में तीनों बहुत पास-पास के अर्थ के बोधक होते हैं। वैज्ञानिक भाषा में में अभी इन शब्दों का ठीक वजन बनने में नहीं आया है। इससे आपके मतलब लायक जवाब मैं क्या दूँ ?

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभुति से मेरा अभिप्राय आप Willing, Thinking और Feeling से समझिए।

उत्तर—मै समझा। लेकिन यह प्रश्न शास्त्रीय अधिक हुआ। क्या वह आपके मन का है ? वह प्रश्न इस जगह विशेष स्पष्टता या सहायता

देने में काम नहीं आ सकता।

Feeling प्राथमिक भाव है। वह बचाया नहीं जा सकता। उसमें जब कुछ विचार भी आ मिलता है, तो उस भाव में संकल्प की दृढ़ता मालूम होती है। जब उसमें विचार का प्राधान्य होता जाता है, और भावना गौण पड़ती जाती है, तब उसको Thinking कह दीजिए। ये एक ही प्रवाहित भाव की तीन श्रेणियाँ हैं। Feeling बिलकुल जरूरी है, और अनिवार्य है। सच्चा Willing Feeling की जमीन पर ही हो सकता है। और Thinking भी तभी सतेज और सवेग होगा जब वह परि-पूर्णता में से जागता है। अभाव-मय प्रतिक्रिया मे से नही। संकल्प-हीन, भावना-हीन विचार प्रमाद पैदा करता है। विचार-हीन भावना अविवेक को जन्म दे सकती है।

पर असल बात न भूलें। गंगा ज्यो-ज्यों बढ़ती है त्यो-त्यों अलग नामो से भी चीन्ही जा सकती है। हरिद्वार मे वह त्रिवेणी नहीं है, प्रयाग में त्रिवेणी है और कलकत्ता में हुगली। इसी प्रकार इन तीन शब्दों के सहारो से जिस वास्तव और प्रवहमान और विकासशील तत्त्व को समझना है, उसे आँखों से ओझल हम न होने दें। वही असल है।

प्रश्न के अधिक शास्त्रीय होने में यह खतरा है। उससे जो साधन है वह साध्य मालूम होने लगता है। साधन के बारे में भी साध्य से कम सावधान नहीं रहना होगा। पर साधन को साधन ही समझते रहना योग्य है। नहीं तो जीवन के लिए शास्त्र नहीं, प्रत्युत शास्त्र के लिए जीवन का उपयोग होने लगेगा और यह अनर्थकारी होगा।

एक पत्र

पण्डित जी

इधर मै दूर पड गया हूँ। आपका अखबार भी देखने का मौका नहीं आता। फिर आपकी लगन मे मुझे भरोसा है। उसका प्रशंसक भी हूँ। आप निष्ठा-पूर्वक अपने मार्ग पर बढते ही चले जा रहे हैं। मुझे ख्याल न था कि फिर कभी टोक कर आपसे कुछ कहने का अवसर आयेगा। चलते आदमी को टोकने से लाभ कम होता है। फिर मै कोई पंडित नहीं हूँ। वय मे भी छोटा हूँ, अनुभव मे भी बड़ा नहीं हूँ। कहने का मेरा अधिकार कितना है? पर प्रवृत्ति-निवृत्ति-सम्बन्धी जो चर्चा चल पड़ी है और कुछ गर्मी और घबराहट पैदा कर रही है, एक मित्र ने पूछा कि उसमे मेरी क्या राय है। मैने तब तक कुछ पढ़ा न था। अभी पढ़ा है। पढ़कर उस बारे में मेरा कुछ अभिप्राय भी बन सका है। मित्र का अनुरोध कि उसे प्रकट करना चाहिए। मुझे भी ऐसा लगता है और मै यह पत्र लिखने की इज़ाजत चाहता हूँ, आपके प्रति सराहना और प्रेम-भाव के हेतु से ही। क्योंकि मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, इससे यदि अपने अधिकार मर्यादा को भी लाँघ रहा होऊँ तो क्षमा करे।

पहले मै कुछ वह कहूँ जिसकी संगति शायद मामूली तौर पर यहाँ न दीखे पर जो बात जड की है।

लेखों-व्याख्यानों द्वारा जो काम आप कर रहे है, उसका रूप क्या

है ? व्यावहारिक धर्म-नीति और उसकी अपेक्षा प्रचलित समाज-नीति में सुधार-परिवर्तन क्या इन शब्दों में मै उसे कह सकता हूँ ? मै गलत तो नहीं हूँ ?

जो है उससे आप सन्तुष्ट हैं। जो चाहिए; उसे आप करना चाहते हैं। क्या चाहिए, यह आपकी बुद्धि आपके निकट प्रकट करती है। आप उसी 'चाहिए' को सामने रखकर अपना कर्तव्य चुनते और कार्य करते है।

यह ठीक है। सब ही ऐसा करते हैं। कर्तव्य कार्य की सृष्टि इसी प्रकार होती है। अपूर्णता इसी प्रकार सम्पूर्णता की ओर उठती है। व्यक्तिगत मानस इसी विवेक-पद्धति से समष्टि के प्रति उत्तरोत्तर व्यापक होता है।

मै इसके लिए आपका कृतज्ञ होता हूँ कि आप तीव्रता से अपनी बुद्धि का उपयोग करते है और अपना कर्तव्य अत्यन्त स्पष्ट देखते हैं और अत्यन्त निष्ठापूर्वक उस पर चलते है। इस शक्ति के लिए मै आपकी सराहना करता हूँ।

किन्तु मेरा मत है कि जो उपकार आपसे हो रहा अथवा किसी से होता है वह उतने ही अनुपात में जितने कि आप, अथवा कि वह व्यक्ति, अपने प्रति निष्ठावान है। जितना जो अहंकारी है। उतना वह अधिकारी है। बुद्धि की तीव्रता उपकार भी करा सकती है, अपकार भी करा सकती है।

मैं जानता हूँ, आप आवश्यक रूप मे इससे सहमत होंगे, क्योंकि कि मैं आप को जानता हूँ। निरहंकारिता के तत्त्व को किसी भी तर्क से या छल से टाला नहीं जा सकता।

वही है धर्म। इसी से शुद्ध पुरुषार्थ कर्म को धर्म मे जलाते रहना है। कर्तव्य-कर्म है आत्मोत्सर्ग। जो उत्सर्ग-रूप नहीं है, वह उपयोगी दीख कर भी, शुद्ध नय से च्युत कर्म है।

यह दृष्टि बुद्धि द्वारा समझे हुए कर्तव्य कर्म की मर्यादा निर्धारित

करती है। यह कसौटी है। व्यावहारिक धर्म इसी पर परख कर सिद्ध अथवा असिद्ध बनता है। इसी शाश्वत की अपेक्षा मे अस्थायी किंचित् काल के लिए स्थायी बनता है।

इसीसे, मैं कहता हूँ कि जब-जब धर्म-तत्त्व की बात की जावे तब-तब मानो अपनी ही ओर मुँह करके की जा सकती है। जो बाज़ार की ओर और समाज की ओर मुँह करके धर्म-चर्चा और उसका प्रचार करते है वह आत्मोत्सर्ग नही, मूलत' अर्थ-सेवन करते हैं। वह च्युत कर्म करते हैं। वह धर्म की अवमानना करते है।

आज जो मुझे भय है वह यही कि उस प्रतिदिन होती हुई धर्म की अप्रभावना देखकर आप के मन मे जो क्षोभ होता है उसे झेल न लेकर आप ख़र्च कर पडते है। निकल पडते हैं ललकार के साथ तोड़ने के लिए। और परिणामतः वही कर चलते है; जो आप चाहते है, न हो।

क्षोभ दान की वस्तु नहीं है। वह अर्घ्य है जो हमे औरों से मिले तो स्वीकार्य हो, अन्यथा हम उसे नही दे सकते। वह पी जाने के लिए है। उसमे से शक्ति उत्पन्न होगी। जो गर्मी के रूप मे हमे मिलता है, उसे गर्मी के रूप मे ही फेंक देना पौरुष और धर्म नहीं है। उसे अपने भीतर की साधना से प्रकाश बना कर देना होगा। अन्यथा नहीं।

क्षोभ मनुष्य को खाता है। जो उसको खाते हैं वे अमृतजीवी होते है। आप तो सब धन्धा छोडकर वही बनने निकले हैं। मेरी अभिलाषा है, वही आप हो।

मैने आरम्भ में कहा कि 'जो है' उसके प्रति असन्तोष 'अमुक चाहिये' इसकी कल्पना पैदा करता है। फिर मनुष्य को बुद्धि मिली है। वह रूप-परिभाषा देने का यत्न करती है। सद्‌बुद्धि विवेक-रूप है। केवल बुद्धि विवाद-रूप है। विवेक मे किसी महत्त्व की अपेक्षा है। विवेकवान् व्यक्ति आग्रही कम, जागृत अधिक है। वह धर्म के मार्ग मे शोधक है, यात्री है। जो उसकी पथयात्रा मे आवश्यक और साधक नहीं

है, उससे उलझने का अवकाश उसे नहीं है। विवाद उसे अत्यन्त अप्रिय होगा क्योंकि उस मुक्ति के राही को राह लम्बी तय करनी है।

किन्तु बुद्धि को अपना विलास भी प्रिय होता है। जो धर्म-गत नहीं है वह बुद्धि स्थूल आधार पकड़ती है, वह अर्थ को पकड़ती है। अन्वयार्थ, भावार्थ, द्रव्यार्थ, आदि-आदि अनेक अर्थ। इस भाँति वह अपने लिए भी, और दूसरों के लिए भी विकल्प पैदा करने में रस लेती है।

बात यह है कि आपकी-सी बुद्धि की प्रखरता के प्रतिभावान् व्यक्ति मैने कम देखे हैं। आप खूब ही लिखते हैं, बोलते भी खूब ही हैं। पाठक और श्रोता की सुधबुध हर ले सकते है। आप चमत्कार-सा पैदा कर देते है।

लेकिन धर्म के विषय मे ललकार से अधिक प्रेम उपयोगी है—इस बारे मे मेरे मन मे तनिक भी सन्देह नही है। जो तत्त्व के विषय में और सत्य के विषय मे इतना निर्भ्रान्त है कि विवाद को निमन्त्रित करता और उसी द्वारा उसे प्रचारित और प्रतिष्ठित करने मे दत्तचित्त है, वह सन्दिग्ध धार्मिक है। वह एकांगी सत्याचारी है।

प्रखरता धर्म अर्थात् सत्य-शोध-चर्या के क्षेत्र मे अत्यन्त अविश्वसनीय वस्तु है। जो प्रखर-प्राबल्य के बल से आज डिक्टेटर बना है, धर्म की और मुक्ति की राह में तो उसे वह बल तज कर ही चलना होगा। और मै कहता हूँ कि इस त्याग से उसका बल बढ़ेगा ही, चाहे वह चमत्कारशील कम दीखे।

व्यक्ति की दृढ़ता पत्थर की दृढ़ता से भिन्न वस्तु है। वह कहीं अमोघ है। व्यक्ति इसीसे स्टील बन सका है और पहाड तोड सका है।

वह दृढ़ता इसीसे अतोल है कि उसमे लचक है, वह कठोरता नहीं है। उसमें सत्य की विविधता है। उसकी दृढ़ता संकल्प की दृढ़ता है। संकल्प का मूल्य प्रेम है। प्रेम भावना है। मनुष्य आत्मा है। आत्मा है, इसी से कौन वज्र उससे कठोर हो सकता है, क्योंकि वह उसी क्षण

आर्द्र भी है।

जिस दृढ़ता को सर्वशः प्रेम का बल नहीं धारण कर रहा है, जो एक-ही साथ मृदु भी नहीं है, वह धार्मिक दृढ़ता नहीं है, इसलिए वह अखण्डनीय नहीं है। आप के लेखों मे शुद्ध धार्मिक दृढ़ता है, ऐसा आश्वासन मुझ को नहीं होता। उस की ललकार दर्प जगायेगी और जगा रही है। और इसलिए मैं पक्के विश्वास से कहता हूँ कि वह अविजेय नहीं है, अखण्डनीय नहीं है।

मैं खंडन को व्यर्थ समझता हूँ। जीवन अपने स्वभाव से ही प्रति-क्षण मृत्यु को खंडित करता रहता है। लेकिन जो जीवन मृत्यु से सीधा खंडन का नाता ठानता है वह स्वयं उसका ग्रास बनता है।

किन्तु आप एक (यानी, अपने) दृष्टिकोण से देखे गए दृश्य को, इस भाँति जाने गए ज्ञान और लिखे गए लेख को अखण्डनीय प्रगट करके प्रेरणा देते हैं कि दूसरा भी ऐसी गलती करे।

पर हम आंशिक सत्य ही जानते और जान सकते है। और वह आंशिक सत्य प्रतिक्षण अधिकाधिक उद्घटित होते हुए सम्पूर्ण सत्य के हाथों पहले ही से खण्डित रखा है। आज की आप की बौद्धिक-स्थिति परवर्ती स्थिति के समक्ष आप ही नतमस्तक है।

और वह सत्य जो अंश की सत्यता को भी धारण किये हुए; आत्मा-मय है। वह अनुभूति-मय है, भावना-मय है। मानवगत, समाज-गत होकर वह सत्य अहिंसा, यानी प्रेम, हो जाता है।

प्रेम ही जिसकी कठोरता और आवश्यकता को धारण नहीं किये हुए है वह कथन, चाहे उसका उत्तर किसी से भी न बन पडे, सत्य नहीं है। वह पहले से ही परास्त है।`

आप देखें कि मैंने अब तक जो कहा उसकी तार्किक संगति जिस विषय की मीमांसा चली है उससे स्पष्ट नहीं है। ऐसा जान-बूझ कर है। मेरा कथन श्रीयुत......के लेखो के लिए तो और भी लागू है।

मेरा कथन इतना ही है कि तर्क-युद्ध धर्मक्षेत्र से बाहर का व्यापार

है। आप बहुत उपयोगी बात कह रहे हैं, बहुत उपयोगी काम कर रहे हैं। तर्क-युद्ध के बिना नहीं चल सकते तो वह भी करें। आप सुधार चाहते हैं, मुबारिक। समाज की संस्थाओं की अनुपयोगिता दूर करना चाहते हैं—बहुत शुभ। कौन विचारवान् आदमी अपनी-अपनी दृष्टि से वह नहीं चाहता, और उसमें योग नहीं डालना चाहता? आप अपनी समस्त प्रतिभा इसमें डाल दें, सब लोग आपके कृतज्ञ होंगे। यह समाज के लाभ की बात है, समाज का समझदार अंश आपका साथ देगा। जो न देगा, प्रेम के बल से, उसके विरोध और असहकार को आपको जीतना होगा, आदि। यह भी एक 'हीरो' का काम है।

लेकिन इस तरह के सुधार के काम की ज़िम्मेदारी लेकर आप इस निर्णय की ज़िम्मेदारी से अपनो को मुक्त समझें कि सत्य क्या है, धर्म क्या है, जैन-धर्म कितना शुद्ध है अथवा कितना अशुद्ध आदि—तो इसमे क्या कुछ आपको विशेष बाधा है? मै यही आपसे कहता हूँ।

मैं नहीं मानता, धर्म और व्यवहार दो अलग चीजें हैं। लेकिन व्यवहार और दर्शन दो पृथक् वृत्तियाँ अवश्य है। वे सदा से दो हैं, सदा दो रहेंगी, दार्शनिक अकुशल व्यवहारी होते है, व्यवहारी कम दार्शनिक होते हैं। जहाँ दोनो मे साम्य और सामन्जस्य होता है, वह है धर्म। वह धर्म पूरे व्यक्ति को ढँकता है। उस धर्म पर विवाद छेड़ा ही नहीं जा सकता। उस धर्म को लेकर उस समय तक मौन नहीं टूटता, जब तक परस्पर जिज्ञासा का सम्बन्ध न हो।

मै कहता हूँ कि अब तक आपका कोई लेख मैने उस धर्म के तल तक उतरता नहीं देखा, वह ऊँची बुद्धि के स्तर से लिखा जाता है, और तब मुझको प्रतीत हुआ है कि आप बुद्धि से लौकिक और व्यवहार से दार्शनिक है।

और उस धर्म के तल तक आपका कथन उठ गया हुआ मुझे नहीं लगता इससे अनुभव होता है कि आप बुद्धि से दार्शनिक और मूलतः अभी तक व्यवहारी हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि इन दोनों के सामन्जस्य का धरातल न विचार है, न कृत्य है—जहाँ दोनों एक होते हैं वह है व्यक्तित्व—वह है भीतरी आत्मा, जो वाणी और कृत्य दोनो ही मे व्यक्त होती है।

और जो इस स्व-पर-कल्याण-कारक धर्म को पकड़ता है वह उत्त-रोत्तर, स्थूल दृष्टि से, निवृत्तिमय होता चलता है। निवृत्ति का उपदेश उसके लिए नहीं है, उसकी शर्त ही निवृत्ति है।

क्या मैं मानूँ कि उस मज़दूर से जो आठ घण्टे कारखाने में और उसके ऊपर चार घण्टे और कुछ अपने बड़े परिवार की आमदनी बढ़ाने के लिए काम करता है, उस मज़दूर से आप कम प्रवृत्ति-दत्त हैं? मैं जानता हूँ कि आप जब दिल्ली में मेरे यहाँ ठहरे थे आपके प्रवृत्ति-पूर्वक बोलने और लिखने क कुल घण्टे मिलाकर मुश्किल से एक दिन में तीन या चार होते होंगे, लेकिन यह जानकर भी मैं नहीं कह सकता कि आप प्रवृत्ति-हीन हैं और इस दिशा में अपराधी हैं। 'प्रवृत्ति' की अपेक्षा तो यह कह ही नहीं सकता।

लेकिन, उपयोगिता की अपेक्षा मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि आप अधिक योग्यता और अधिकार-पूर्वक समाज के और मानवता के, उस मज़दूर की तुलना में, अधिक गण्य-मान्य सदस्य हैं। मै यह कहता हूँ और इसमें कोई अनुपयुक्तता नहीं देखता।

क्यो?

क्यो, इसलिए कि जो जीवन का महत्त्व स्थिर करने वाली वस्तु है, वह और है। प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्दों के सहारे हम उसी जीवन-तत्त्व को पकड़ना और समझना चाहते है।

आप उस गड़बड़ को अनुभव कीजिये कि जो अनजान मे आप पैदा कर देते हैं, और जो आपमें भी है। इसी से जितना मत-भेद उत्पन्न होता है, उतना फल उत्पन्न नहीं होता।

आप धार्मिक-तल पर बात नहीं कहते। उस तल पर शब्द, अपने आप अपूर्ण होकर भी, विवाद उपस्थित नहीं करते, कुछ पूर्णता का

बोध उपजाते है ।

परिणाम यह है कि निवृत्ति-प्रवृत्ति शब्द कभी कृत्य की अपेक्षा में, कभी मनोवृत्ति की अपेक्षा में आप प्रयोग करते हैं। 'दार्शनिक' की भाषा के उपयोग से आप सुधारक का लक्ष्य साधना चाहते है। कठिनाई यहीं आप पैदा करते हैं ।

श्री ·· की वृत्ति सामाजिकता की अपेक्षा स्पष्ट है। वह दार्शनिक ऐसे हो या वैसे हों, प्रवृत्त उसी ओर है । शब्द उनके लिए भाव की अपेक्षा से तो साधन हैं; पर लौकिक-लक्ष्य की अपेक्षा साधन का काम उन शब्दों से वह सँभलकर लेते है ।

आप इस मामले में खुश-किस्मत है । शब्दों से, और उन पर, आप नहीं रुकेंगे । शब्द टूटें-फूटें भी तो क्या चिन्ता । और उनके भाव की कुछ अवज्ञा हो तो भी वह होने के सिवाय क्या उपाय है ? यह आपका ढंग है । और मै मान लूँ कि यह अधिक सचेतन है ।

लेकिन मुश्किल तो यह है कि आप उस सुधार के उद्देश्य की वेदी पर माथा टेकते हैं, पर अपने भीतर के व्यवसायी दार्शनिक को वहाँ समर्पित नही करते । समर्पण न कीजिए, बलिदान कीजिए। समर्पण से पूर्णता आयगी, बलिदान से शक्ति आयगी। लेकिन आप आधा मोह पालते है, आधे से साधना साधते हैं। परिणाम इसका दुस्सह होता है। सोच-विचार वाले व्यक्ति को सहमत होकर भी आपसे असहमत होना पडता है ।

बुद्धि के द्वारा आप सुधार चाहते है ? तो वह कीजिए। दार्शनिक यही करता है। वह बुद्धि (Concepts) को संस्कार देता है। वह वर्तमान को तनिक अधिक तटस्थता से देखता है। वह शक्ति को कम, तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। वह गम्भीर, स्थायी सुधारक बनता है।

शक्ति के द्वारा आप सुधार चाहते हैं ? तो वह कीजिए। विध्वंसक बनिए। विद्रोह की ओर सिर्फ़ उसी की आत्मा स्वीकार कीजिए। एकांगी हूजिए और प्रणपूर्वक एकांगी हूजिए ।

संगठन और लोक-संग्रह के द्वारा सुधार चाहते हैं तो तरकीब से चलिए। समाज के नेताओं को खोजिए, मिलाइये, पंचायत कीजिए, कान्फ्रेंस कीजिए। आदि।

यह सभी कुछ करना चाहते हैं तो धार्मिक बनिए। इसके लिए कुछ न चाहिए, वेदना चाहिए। लोगों की आत्मा को पाइये और उनमें अपने को खो दीजिए। वास्तव मार्ग तो यही है। पर वह तो सम्पूर्ण समपर्ण, सम्पूर्ण बलिदान का है। वह साधारणतया बुद्धिमत्ता और चतुरता और शक्तिमत्ता का नहीं है। वह प्रेम की वेदना का है। वह बुद्ध, क्राइस्ट, गांधी का है और शायद महावीर का भी है।

लेकिन न सही धर्म। आधुनिकता (Modernism) धर्म को नहीं झेल पाती। तब बिलकुल इधर किनारे रहकर लौकिकता के मार्ग हैं, या विचार और कल्पना के मार्ग हैं। कवि बनिए, दार्शनिक बनिए, आलो-चक बनिए, कार्यकर्ता बनिए, योद्धा बनिए, संग्रहकर्त्ता बनिए, सेवक बनिए। सभी मार्ग सुधार और उन्नति में पहुँचते हैं। वृत्ति शुद्ध चाहिए।

लेकिन संकट उपस्थित न कीजिए। उससे वर्णभेद और वर्गभेद और बुद्धिभेद उत्पन्न होता है, फल उत्पन्न नहीं होता।

जो धर्म पर अपना आश्रय रखता है वह जानता है कि एक अवस्था है जो वर्णनातीत है। वहाँ व्यक्ति का कोई व्यवसाय नहीं होता। हो सकता ही नहीं। वह अवस्था श्रेणीबद्ध नहीं हो सकती। उसी को संज्ञा दी गई—साधु।

वह साधु समाज का अंग है, पर वैसा ही अंग है जैसे हमारे भीतर का हृदय। वह सतत-व्यापार-शील है। हाथ-पैर दीखते हैं, उनका काम दीखता है। पर हाथ-पैर आराम कर सकते हैं, वे रोगी होकर फिर अच्छे हो सकते हैं—पर हमारे हृदय को तो एक घड़ी के लिए चैन नहीं है। क्योंकि वह रुका कि मृत्यु हुई।

दुनिया में नियम-कानून हैं, प्रस्ताव-विवाद हैं। स्टेट नागरिकों को

नियम देती है, नेता समाज को, बुज़ुर्ग बच्चों को। लेकिन वे नियम हृदय पर कितने लागू होते हैं ? हाथ-पैर कोई बाँध सकता है, पर मन तो सब कहीं डोलता है। वह मन क्या अपने काम के सिवाय कुछ भी काम कर सकता है ? वह तो रत्ती-भर चीज़ को इधर-से-उधर नहीं कर सकता। फिर भी हम जान लें कि जो होता है उसी से होता है। और मैं कहता हूँ, उसे नियम मत दीजिए, उससे नियम माँगिए।

मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप स्वयं साधु हों। यह नहीं कि ऐसा या वैसा कपड़ा पहनें। पर इस जगत् में कुछ आपका न हो, मात्र सद्-भाव की पूँजी ही आप की पूँजी हो। विवशता-पूर्वक लोग आपको महात्मा और साधु मानें। और तब माँगने पर आप साधु-संस्था का आधुनिक रूप दें। मेरी बहुत इच्छा है कि ऐसा हो। लेकिन क्या ऐसा है ? और क्या आप मुझे मानने की आज्ञा देंगे कि ऐसा है ? और अगर ऐसा नहीं है तो आपके शब्दों के पीछे सेवा और त्याग और आत्मा का बल और अधिक हो—क्या यह प्रार्थना करना शुभ न होगा।

निवृत्ति-प्रवृत्ति की चर्चा का आरम्भ बम्बई मे दिये गए पर्यूषण व्याख्यान-माला के एक भाषण से हुआ था ? वह भाषण गवेषणात्मक उतना नहीं, जितना आदेशात्मक और आलोचनात्मक है। मेरा अनुमान है कि उपस्थिति में गृहस्थों की संख्या अधिक थी। वे प्रायः विद्वान् होंगे अथवा जिज्ञासु होंगे। इस भाँति यदि उसके आदेशात्मक होने की आवश्यकता थी तो क्या व्यवहार-धर्म पर्याप्त विषय न था ? क्या उस बारे में जो चाहिए वह सब हो चुका ? और यदि 'चाहिए' से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है तो वह गवेषणात्मक और क्यों नही हो सका ?

मैं यह जानना चाहता हूँ कि किस आन्तरिक प्रेरणा के कारण यह अनिवार्य होता है कि निष्फल आलोचना की जाय ?

न समझा जाय कि आज के साधुओं अथवा साधु संस्था से मेरे मन को तृप्ति है; पर जब तक उनकी सेवा के द्वारा उनका विश्वास सम्पादन मैं नही करता तब तक किस मुँह से मैं अपने को छोटकर उनको दोष

देने आगे बढ़ सकता हूँ ? सार्वजनिक रूप में आलोचक मुझे बनना है तो मैं क्यों न अपना ही आलोचक बनूँ ? यों शुद्ध तत्त्वालोचक बनने की मुझे सुविधा हर समय है ही—मैं जीवन-आलोचक, यानी साहित्यिक बनूँ ।

पंडित जी, कृपया डाक्टर और मरीज़ और इस तरह की और बातें न कीजिएगा । डाक्टर क्या फोड़े के नश्तर न लगाए ?—आदि-आदि तर्क और उदाहरण सुनते-कहते हर समझदार आदमी का जी पक चुका है । वैसे अनगिनत उदाहरणों के उलट-फेर आप दे सकते हैं, अन्य भी दे सकता है । लेकिन मुझे रह-रहकर अचरज होता है कि क्या डाक्टर के लिए यह आवश्यक नहीं है कि या तो समाज द्वारा वह इस तरह के कामों के लिए आग्रहपूर्वक अधिकारी चुना जाय, नहीं तो मरीज़ का विश्वास उस पर हो ? आज चारों ओर मरीज़ की चीर-फाड़ ख़ूब हो रही है, लेकिन क्या कभी प्रेम की वेदना के सर्टिफ़िकेट को भी डाक्टर से तलब किया जा सकता है या नहीं ?

महात्मा ··श्रीयुत···के पत्र को ठीक ही जांचा । पर प्रत्येक स्वाधीन चेता का उत्तर सहमति और असहमति में इसी प्रकार बँटा होगा । जो समाज से अपना नाता अनुभव करता है उसके उत्तर में आवेश भी होगा, क्योंकि आपके मूल व्याख्यान में भी आवेश था । समाज के प्रति नाता जितना घना होगा, आवेश उसी अनुपात में बढ़ सकता है । मत-भेद और-आलोचना आवश्यक है क्योंकि मतों में हमेशा भेद होता है और प्रतिपादन का जवाब आलोचना होती है । और जिस अंश में आपके लेख में आकांक्षा और भावना का अंश है उससे असहमति का अवकाश नहीं है; क्योंकि प्रत्येक सच्चेता की भावनाएँ एक दिशा में चलती हैं ।

सुधार मैं भी चाहता हूँ । कौन नहीं चाहता ? आप तीव्रता-पूर्वक चाहते हैं, मैं प्रार्थना-पूर्वक चाहता हूं । प्रार्थना में तीव्रता से अधिक शक्ति और अधिक सक्रियता हो सकती और होती है ।

पर अहंकृत-बुद्धि का आरोप उस भावना पर डाल दीजिए और आवेश उसमें मिल जाने दीजिए तो देखिएगा कि अच्छाई की जगह उसी से बुराई हो रही है। यह मैं नीति की दृष्टि से नहीं कहता, धर्म दृष्टि से कहता हूं। धर्म की दृष्टि से चतुराई से अधिक खरापन और ईमानदारी मुझे प्रिय है। छलपूर्वक कोई मीठा हो, यह पाप है। पर निश्छल होकर कड़वा ही हुआ जा सकता है, यह मैं एक क्षण को भी नहीं मान सकता। अहंकार-नाश अथवा छल-नाश की कुछ त्रुटि ही है कि व्यक्ति कठोर भाषा बोलता या लिखता है।

और मैं अपनी इस प्रतीति की ओर भी आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि सेवा द्वारा जो अधिकार मिलता है वह सच्चा स्वत्व है। और आलोचना का अधिकार बहुत ही दायित्व-पूर्ण है।

आपके कार्यों का और आपके समाज का मूलाधार सर्व-धर्म-सम-भाव का सिद्धान्त है। लेकिन वह सिद्धान्त किसी विशेष अवसर पर याद रखने के लिए नहीं है न। वह तो यथाशक्य आठों प्रहर दिशा-दर्शक-यन्त्र की सतत-जागृत सुई की भाँति सामने रखने के लिए है न? तब जो मुनिधर्म को अपना धर्म मानता है उसके प्रति सम-भाव लागू क्यों नहीं है? उससे क्या अपना प्रेम खींच लें? उसे क्या हम उपहास्य बना सकें?

कहा जा सकेगा कि यों तो जड़ता को जिसने धर्म माना है उसकी जड़ता के परिहार होने का भी यत्न न हो सकेगा। हाँ, बेशक न हो सकेगा।

पत्थर की जड़ता हम इस प्रकार तो हरण कर सकते हैं कि आदर-भाव से और लगन के साथ उसे गढ़कर मूर्ति का रूप दें और अपनी श्रद्धा में उसे प्रतिष्ठित करें। इस प्रकार पत्थर को हम सजीव ही नहीं बना सकते, उसे देवता और परमात्मा बना सकते हैं।

अन्यथा उसकी जड़ता से रुष्ट होकर ज़ोर से पीटने लगने से हम उसे तो धूल और अपने को निष्फल ही बना सकते हैं और कुछ नहीं

कर सकते।

जड़ को पीटने का यह लालच बचपन का द्योतक है।

आज सर्व-धर्म-समभाव कहकर भी जीवन मे यह दिक्कत तो रह ही जाती है। गिने-गिनाए धर्मों के नाम पर जो बडे-बड़े समुदाय हैं उनके प्रति सहिष्णु रहकर मानो अपने बीच में छोटे-छोटे समुदाय खडे करके असहिष्णु हम हो सकते हैं। यह सर्व-धर्म-समभाव की विजय नही है, विडम्बना है।

आज अपनी बुद्धिमत्ता में मुझे कितना आभास लगता है कि अमुक को प्रतिक्रियावादी, भीरु और पाखण्डी कह दूँ? मै यह कर सकता हूँ। सभी यह कर सकते हैं। लेकिन जो यह करता है वह अपना सर्व-धर्म-समभाव अखंडित नहीं मान सकता। ऐसा मानना आत्म-प्रतारणा करना है।

समाज के संघटन और विधान की ओर दृष्टि रखकर अगर मैं साधु-संस्था के बारे मे कहूँ तो यह मानकर भी कि आज अवस्था बहुत दूषित है मुझे कहना होगा कि धर्म-नीति का स्वाभाविक प्रवाह त्यागी से गृहस्थी की ओर, विरागी से व्यवहारी की ओर है। गृहस्थी और व्यवहारी असहयोग कर सकता है, अपनी गृहस्थ-वृत्ति में आग्रही हो सकता है; परन्तु विरागी त्यागी से आदेश पा ही सकता है, उसे आदेश दे नही सकता। कुछ साधु गृहस्थी से गए-बीते हो सकते हैं। तर्क के लिए मैं मान लूँ कि अधिक साधु ऐसे हैं। फिर भी जीवन का अनुक्रम वही है। गृहस्थ गार्हस्थ्य व्यापारों के द्वारा परिमित है, साधु निर्बन्ध है। गृहस्थ, आज की परिस्थितियो को देखते हुए, अधिक-से-अधिक राष्ट्र-धर्मी हो सकता है; पर साधु सदा से विश्व का नागरिक है।

दीजिए आप दो, दस, पचास, सौ, साधुओ की भ्रष्टता के उदाहरण। चाहे तो अधिक भी दीजिए। लेकिन मै न मानूँगा कि गृहस्थ-समाज और साधु व्यक्तियो के परस्पर सम्बन्धों मे साधु दाता और समाज भोक्ता नहीं है। साधु आत्मदानी है—आत्म-दान के नियम

कब किसने बाँधे है ? ईसा को कौन सूली चढ़ने से रोक सका ? लोक-धर्म यही कर सका कि ईसा को सूली चढ़ावे और उसके बलिदान का पाप और पुण्य दोनों स्वीकार करे।

आप कहेंगे, यह आपने भी कहा है। हाँ, कहा है। पर आपने उस प्राणमय सिद्धान्त में अपने मन्तव्य का इस प्रकार रंग भरा है कि वह सप्राणता अत्यन्त भ्रामक हो गई है।

धर्म के मामले में अधीर न हुआ जा सकेगा। कच्चा युवक धैर्य खोए तो कुछ अनुकूलता भी दीख सकती है। पर जो धर्म-नीति की चर्चा में प्रकाश देना चाहता है, अधीरता का उसके पास क्या काम। समय अभी समाप्त नहीं होने वाला है। अनन्त भविष्य पड़ा है। सदियों पर सदियाँ आवेंगी। उन तमाम शताब्दियों में भी करने को बहुत-कुछ रह जायगा। हम निश्चय रखें कि पाप तुर्त-फुर्त खतम हो जाने वाला नहीं है। वह तो जीता ही जायगा। यह नहीं कि हम उससे हार मान लें। पर याद रक्खें, सत्-असत् की लड़ाई तब तक रहेगी जब तक सृष्टि रहेगी। सत् पक्ष की पहचान शान्ति है। असत् पक्ष अधीर होता है, इसीसे दुर्बल है। इसी में उसकी हार है। द्वेष को प्रेम से जीतना है। किन्तु जीतने की अभिलाषा में क्या वह प्रेम अपनी प्रकृति से चूक जाय ? यह तो उसकी हार हुई।

पंडितजी, मैं यही कहता हूँ। लड़िये। युद्ध ही जीवन की थाती है। पर युद्ध में प्रेम के बल से दृढ़ रहिए। तनिक भी रोष के बल में कठोर मत हूजिए। आप योद्धा है। मैं आपकी ओर आशा से देखता हूँ। सत् की सेना में सिपाही हैं कितने ? पर सत् का बल संख्या में नहीं है। पर आप जैसा सत्प्रण वीर शत्रु (अर्थात्, आवेश, रोष) के हाथों दब कर उधर जा मिलेगा तो साथी सिपाहियों को कैसी निराशा होगी। कृपया इसका ध्यान रखिए।

सत्य की सेना का कोई नाम नहीं है। कृपया कभी भूल न कीजिए कि सत्य-समाज के सदस्य ही वह सेना हैं नहीं, नहीं। कट्टर समझे

जाने वाले लोगों में भी ऐसे व्यक्ति होंगे, सत्य-समाज में भी हो सकते हैं, साधुओं में भी हैं। कहाँ वे नहीं है। पर किसी सिद्धान्तवादी पार्टी में वे कभी जुड़े हैं, जो अब जुड़ेंगे ? बहुत दल हैं, बहुत सम्प्रदाय है, बहुत पन्थ है। पर धर्मतत्त्व तो एक ही है। वह आत्मा से पाना होता है, पार्टी से नहीं। और हर दल, हर सम्प्रदाय और हर पन्थ के हरेक व्यक्ति के भीतर आत्मा है। आप चाहते है सुधार ? आप चाहते हैं युद्ध ? आप चाहते हैं शान्ति और सुख और कल्याण ?—तो आप हरेक के भीतर की उसी आत्मा को अपनी आत्मा की सुलग से जगाइये। वह जगी कि जग जागा रक्खा है। यही मार्ग है। यही धर्म है।

मै बहुत लिख गया, पंडित जी। इतना लिखूँगा, ऐसा स्वप्न न था। क्षमा कर दे। मुझे अन्यथा न समझें ! मै आपका ही हूँ।—